श्रीरामकिशोर गुप्त द्वारा,
साहित्य प्रेस, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) में
मुद्रित तथा प्रकाशित ।

जिस कुल, जाति, देश के बच्चे
दे सकते है यों बलिदान,
उसका वर्तमान कुछ भी हो,
पर भविष्य है महा महान ।

विषय-सूची

—

उपोद्घात

लिखने की धुन कहिए अथवा महापुरुषों की ओर हृदय का आकर्षण कहिए, लेखक को अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ मे न जाने, किन किन विषयों पर लिखने की उमङ्ग उठा करती थी। महच्चरित्र संसार के किसी भी भू-भाग पर उद्भूत हों, वे सार्वभौमिक होते है। इसलिए महाराणा प्रतापसिंह, छत्रपति शिवाजी और गुरु गोविन्दसिंह तक ही लेखक की वह लालसा सीमित न थी। हजरत हसन-हुसेन पर भी अपनी सहानुभूति प्रकट करने के लिए उसका हृदय उत्कण्ठित हुआ करता था। उन दिनों की आरम्भ की हुई कुछ रचनाएँ अब तक पूरी नहीं हुईं। कौन जाने, कभी होंगी या नहीं।

बहुत दिनो तक दुर्बल मस्तक से अतिरिक्त काम लेने के कारण स्वास्थ्य ऐसा भङ्ग होगया है कि वे मनोरथ प्रातःकालीन स्वप्नों के समान अथवा दरिद्रों के मनोरथों की भाँति धीरे धीरे विलीन हो रहे हैं। इधर

हिन्दी की कवि-प्रवृत्ति भी एक नये मार्ग पर ऐसे वेग से बढ़ रही है कि लेखक आप ही आप पिछड़ रहा है। उसे इसकी चिन्ता नहीं। चिन्ता इसी बात की है कि अधूरी रचनाओं के रूप में उसकी कुछ इच्छाएँ पूरी हो जायँ तो उनके लिए पुनर्जन्म न लेना पड़े और, इस प्रकार, अनधिकार चेष्टा से उसे इसी जन्म में 'मुक्ति' मिल जाय।

तथापि, इधर, इस पुस्तक के लिखने की कोई सम्भावना न थी। किन्तु थोड़े दिन हुए एक सिख सज्जन ने बड़े स्नेह, आदर और साथ ही कुछ अभिमान पूर्वक लेखक से कहा था—"क्या आप सिख गुरुओं पर भी कुछ लिखने की कृपा करेंगे ? हिन्दी के कवियों ने, कहना चाहिए कि अब तक उन पर कुछ नहीं लिखा। क्या गुरुओं के बलिदान इस योग्य नहीं कि मैं आपसे यह प्रार्थना न कर सकूँ ?" राम ! राम !! सिख गुरुओं के बलिदान तो ऐसे हैं कि जैसे कुछ होने चाहिए। लेखक बड़े असमंजस में पड़ गया। अपनी असमर्थता अथवा अयोग्यता की बात कहने का भी उसे साहस न हुआ। विवश होकर उसने यही निश्चय किया कि जब तक कोई काव्य-रचना न हो तब तक यह पद्य-रचना ही सही। लेखक का

अपने गुरुजनों के प्रति श्रद्धाञ्जलि देने का अधिकार तो सर्वथा अक्षुण्ण है । अस्तु ।

लिखने का निश्चय होने के साथ ही पुस्तक के नामकरण की बात आई । सहसा "रघुवंश" की ओर लेखक का ध्यान गया । सोचा कि उसी के अनुकरण पर "गुरुवंश" नाम देकर लिखना आरम्भ कर दिया जाय । परन्तु केवल नाम रखने ही से क्या होगा? वैसी कथावस्तु और वैसी वर्णना भी तो होनी चाहिए ? छोटे छोटे अनुष्टुप छन्दों में भी जो चमत्कार वहाँ दिखाई देता है उसका आभास भी यहाँ कहाँ से आवेगा ? फिर 'नाम बड़े, दर्शन थोड़े' की कहावत चरितार्थ करने से क्या लाभ ? तब सोचा, न हो 'गुरु-शिष्य' नाम दिया जाय । परन्तु 'सिक्ख' यद्यपि शिष्य से ही बना कहा जाता है परन्तु वह उससे सर्वथा स्वतन्त्र-सा दिखाई देता है । मानों यह नाम भी इतना सपूत निकला कि अपने पिता के नाम से परिचित होने की इसके लिए अपेक्षा नहीं । स्वयं मूल नाम ही इसकी सम्बन्ध-कामना करता है ! अन्त में अपने एक आध मित्र के विरोध करने पर भी पुस्तक का नाम "गुरुकुल" रखने का निश्चय किया गया । गुरुकुल एक संस्था विशेष का बोधक होने पर भी उपयुक्त जान पड़ा । क्योंकि सिक्खों के

सम्बन्ध में यह गुरुकुल भी तो वैसी ही संस्था है।

सिक्ख इसी गुरुकुल मे पढ़कर
प्राप्त कर सके हैं वह तत्व,
जीवन-रण-क्षेत्र में बढ़कर
जिससे उन्हे मिला अमरत्व।

आर्य-समाज के सम्बन्ध के कारण गुरुकुल नाम एक देशीय हो उठा है। अतएव धार्मिक विवाद के कारण यह भिन्न सम्प्रदाय वालो के निकट अप्रिय न होने पावे, इस कारण से भी लेखक ने इसे रखना उचित समझा।

लेखक और कुछ नहीं कर सकता था तो वीरों का यशोगान करने के लिए वीर वृत्त चुनना तो उसके वश की बात थी। परन्तु उसने चतुष्पद वृत्त को द्विपद रूप में ग्रहण किया है। कहा नहीं जा सकता है कि यह उसका ह्रास है या विकास! परन्तु आरम्भ मे ही पाठक देखेंगे कि मङ्गलाचरण की बात दो पंक्तियो मे ही कहने की थी तो उसे खींच तान कर चार पंक्तियो मे ले जाने की आवश्यकता न थी। कथा किंवा वर्णना मूलक प्रबन्धों में यही क्रम लेखक को ठीक जान पडता है। फिर भी प्रत्येक पद्य दो पंक्तियो मे न छाप कर चार पंक्तियो मे छापा गया है।

धारावाहिक वर्णन मे जैसा एक पद्य का क्रम आगे के पद्यो में चला जाता है वैसा ही यहाँ भी हुआ है। ऐसे स्थलो पर जैसे संस्कृत में युग्म, कलापक और कुलक छन्द समझ लिये जाते हैं वैसे ही हिन्दी मे भी माने जा सकते हैं।

छन्द के अनन्तर भाषा के सम्बन्ध में लेखक की क्षुद्र सम्मति है कि इतने दिनों में, बोल-चाल की भाषा ने कविता की भाषा बनने का अपना जन्म-जात अधिकार सिद्ध कर दिखाया है। यह भी कहा जा सकता है कि उसने इस विषय में 'स्वराज्य' प्राप्त कर लिया। जहाँ पहले खड़ी बोली मे कविता करने का घोर विरोध किया जाता था वहाँ अब यही सुनाई पड़ता है कि "खड़ी बोली मे अवश्य कविता की जाय, परन्तु व्रजभाषा को न भुलाया जाय।' निस्सन्देह वह भुलाने योग्य नहीं। वह हिन्दी कवियो की वैदिक भाषा है। ऋचाओं की भाँति हमारे लिए पवित्र है। यो तो वैदिक भाषा बोलने वाले भी सब मन्त्रकार ही थोड़े ही रहे होंगे। तथापि हमें अपने पूर्वजो की थाती को नष्ट न होने देना चाहिए। सच पूछिए तो वही तो हमारी सम्पत्ति है, जिसे सैकडों वर्ष के परिश्रम से हमारे पुरखो ने उपार्जित करके हमें दिया है।

मान लिया कि बोल-चाल की भाषा ने अपना जन्मसिद्ध अधिकार प्राप्त कर लिया। पर अब संघर्ष छोड़कर उसे स्वराज्य की व्यवस्था भी तो करनी चाहिए। जिस बड़े पद को उसने प्राप्त किया है उसका निर्वाह भी तो उसे करना चाहिए। विजय के अनन्तर शान्ति की स्थापना भी आवश्यक है। किसी भी भाषा की योग्यता उसकी शब्द-सम्पत्ति पर अवलम्बित है। विपुल अर्थ के लिए विपुल शब्द-भाण्डार होना चाहिए। सुश्राव्य होना भी भाषा का एक बड़ा गुण है, किन्तु यह भी उसके शब्दों पर अवलम्बित रहता है। उपयुक्त अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द होने से श्रुति-सुखदता आप ही आप उत्पन्न हो जाती है।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हिन्दी मे भिन्न भिन्न प्रकार के कोषों की रचना हो रही है। बोल-चाल की भाषा की कविता का शब्द भाण्डार भरने में अपनी प्रान्तिक भाषाओं से भी सहायता लेकर हमें उनसे सम्बन्ध-सूत्र बनाये रखना उचित जान पड़ता है। ब्रज, बुँदेलखण्डी और अवधी की तो बात ही जाने दीजिए; उन्हे तो हम लोग अपने घरों और गाँवों में नित्य बोलते ही है, लेखक की राय में तो अन्य प्रान्तिक भाषाओं में से भी हमे शब्द 'जोगाड़'

करते हुए 'सिहरने' के बदले 'विभोर' ही होना चाहिए ! परन्तु यह काम लेखक जैसे लोगो का नही; जिनके कान पक्के हों वही शब्द-झंकार को पहचान सकते है ।

शब्द बोलते हुए सङ्केत है । जिस भाषा में भिन्न भिन्न भावों और क्रियाओं के लिए भिन्न भिन्न शब्द न हो वह कभी पूर्ण भाषा नही हो सकती ।

हमारी प्रान्तिक बोलियो में कभी कभी ऐसे अर्थ पूर्ण शब्द मिल जाते हैं जिनके पर्याय हिन्दी में नहीं मिलते । जब हम अरबी, फारसी और अँगरेज़ी के शब्द निस्सङ्कोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपनी प्रान्तीय भाषाओ से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमे क्यों सङ्कोच होना चाहिए ।

गुरुकुल में एक पंक्ति इस प्रकार है—

कङ्कण नहीं, मुझे तो कर दो,
जो वैरी को धरें समेट ।

समेट धरना बुन्देलखण्डी मुहाविरा है । इसके बदले यह भी लिखा जा सकता था—

कङ्कण नहीं, मुझे तो कर दो,
करें शत्रु का जो आखेट ।

परन्तु समेट धरने में एक विशेष अर्थ है । इसमें शत्रु

को पछाड़ देने के साथ साथ उसे सब ओर से दबा बैठने का भी चित्र खिंचता है, इसी कारण लेखक इसे रखने का लोभ-संवरण न कर सका । इसलिए वह क्षमाप्रार्थी है । क्योंकि यह प्रान्तिक प्रयोग है । तथापि एक प्रार्थना है—इस सम्बन्ध में हमें अपने ही पैरों खड़े होना चाहिए । जैसे वन्ध्या का बाँझ रूप तो हमारे लिए शिष्ट प्रयोग है परन्तु उसी प्रकार सन्ध्या का साँझ वैसा नहीं । उसकी अपेक्षा 'शाम' अधिक प्रयुक्त है । अच्छे से अच्छे शब्द को प्रयोग में न लाइए तो वह कुछ दिनों मे शिष्ट न रह जायगा और साधारण शब्द भी व्यवहार में आने से कुछ दिनो मे विशिष्ट बन जायगा ।

लेखक का यह अभिप्राय नहीं कि 'शाम' का बहिष्कार कर दिया जाय । जो शब्द भिन्न भाषाओं के होने पर भी हमारी भाषा में मिल गये हैं वे हमारे ही होगये है । परन्तु यह अवश्य कहा जायगा कि उनके सामने, उसी अर्थ के, अपने शब्दो को अशिष्ट समझना हमारे मन की नहीं तो कानों की गुलामी ज़रूर है । आज कल राजनीति की सभाओं में बहुधा एक बात देखी जाती है । वह हिन्दी शब्दों का चुन चुन कर बहिष्कार और उनके बदले उर्दू फारसी के अलफाज का प्रचार । हिन्दी के हित-

चिन्तकों को सावधान हो जाना चाहिए। अपनी भाषा को छोड़ कर हम अपने भावों की रक्षा नहीं कर सकते।

साधारण बोल-चाल की भाषा से लिखने की भाषा में कुछ न कुछ अन्तर होता ही है। इसी प्रकार गद्य की भाषा की अपेक्षा पद्य की भाषा में कुछ अन्तर रहता है। पद्यकारों को एक अर्थ के अनेक शब्दों के प्रयोग करने की आवश्यकता पड़ती है। उन्हें और भी कुछ छूट मिलती है। संस्कृत में आवश्यकता होने पर ड और ल, ब और व एवं श और ष में अभेद मान लिया जाता है। कालिदास जैसे कवि को भी यह छूट लेनी पड़ी—

भुजलतां जलतामबलाजनः

इसमें जड़ता के स्थान में अनुप्रास की रक्षा के लिए जलता लिखा गया है। तथापि एक नियम के साथ। इस कारण इस सम्बन्ध में हमें सावधान रहना होगा।

घबड़ाना और घबराना तथा पिंजड़ा और पिंजरा दोनों का प्रयोग हिन्दी में होता है। झड़ना लिखने के बदले झरना भी लिखा जा सकता है। परन्तु इसी प्रकार झगड़ा का झगरा नहीं लिखा जा सकता।

हम लोग चाहें तो अधिक सम्मति से कुछ नियम बना सकते है। जैसे ड और ल के अभेद को छोड़ ऊपर का संस्कृत-नियम हिन्दी में भी मान्य हो सकता है। ण और न का अभेद भी माना जा सकता है। विशेष कर पद्य में। इसी प्रकार उर्दू फारसी के शब्दों के प्रयोग में यदि क़ ख़ ग़ और ज़ आदि के नीचे की बिन्दी निकाल दी जाय तो वे मानों संस्कृत होकर हिन्दी के ही बन जायँ। पद्य में उनका प्रयोग बहुत अच्छा मालूम होता है। पर जबाँदानी मे तो अन्तर पड़ने की आशंका नहीं? बँगला भाषा भिन्न भाषा के शब्दों को अपनाना खूब जानती है।

परन्तु ये सब बातें विद्वानों के विचार करने की हैं। लेखक इस ओर उनका ध्यान मात्र आकर्षित करके अपने दो एक प्रान्तिक प्रयोगों के लिए क्षमा-प्रार्थी है।

चली न उनकी एक चाल भी
बिगड़ गई उनकी सब औज।

इसमें "औज" के बदले "मौज" शब्द रक्खा जा सकता था, परन्तु "औज" में हौसला और सूझ-बूझ दोनों का भाव भरा हुआ है। इसमें शत्रुओं के किंकर्तव्य विमूढ़ होने का ही अर्थ नहीं किन्तु उसके फलस्वरूप

उनके चेहरों पर हवाई उड़ने का भी चित्र अङ्कित है।

तोड़ मरोड़ उखाड़ पछाड़े
बड़े बड़े बहु अज्झड़ झाड़।

अज्झड़ शब्द मे विशाल, भारी और सघन तीनों अर्थों का समावेश है। इसलिए वह झाड़ो के विशेषण के लिए लेखक को बहुत ही उपयुक्त मालूम पड़ा।

ऊपर समेट धरने के सम्बन्ध मे लिखा जा चुका है। एक दूसरी पंक्ति और सुनिए—

"रपट पड़े की हर गङ्गा" मे
मिट सकता है क्या उपहास ?

"रपट पड़े की हरगङ्गा" एक कहावत है, जो इस ओर प्रसङ्गानुसार कही जाती है। मालूम नहीं, और कही इसका प्रचार है या नहीं। किसी ढंग से अपनी कमजोरी छिपाने के सम्बन्ध में इसका प्रयोग होता है। एक जन फिसल कर अचानक पानी में गिर पड़ा। दूसरे देखने वाले कहीं हँसी न करें, यह सोच कर 'हरगङ्गा'—'हर हर गङ्गा' कह कर वह स्नान करने का अभिनय करने लगा। किन्तु लोग कब चूकने वाले थे ? कह उठे—अजी, यह तो रिपट पड़े की हरगङ्गा है !

भाषा यथा सम्भव सरल रखने की चेष्टा की गई

है। परन्तु इस सम्बन्ध में पाठकों से एक निवेदन करना है। पुस्तक में एक पंक्ति पहले इस प्रकार थी—

किन्तु साँप सीधा होकर भी
नहीं छोड़ता है गति वक्र।

बाद मे यह इस प्रकार बदल दी गई—

पर द्विजिह्व सीधा होकर भी
नहीं छोड़ता है गति वक्र।

द्विजिह्व शब्द यहाँ अधिक उपयुक्त जान पड़ा। वे मुसलमान जो बन्दा की अधीनता में रहते थे भीतर ही भीतर नवाब से मिले हुए थे। अतएव उनके लिए द्विजिह्व पद अधिक अर्थसूचक जान पड़ा। चुगलखोर के अर्थ में भी वह आता है।

फैली कृपि युत कृपिग्रासिनी
घाम-राशि-सी पञ्चाशक्ति।

यहाँ "कृपिग्रासिनी" के स्थान मे 'कृपिविनाशिनी' भी कहा जा सकता था, परन्तु लेखक को इसमे वह ओज नहीं दिखाई दिया।

एक पंक्ति इस प्रकार है—

बलगौरव के करलाघव के
सूक्ष्मदृष्टि के हुए प्रमाण।

इसमें क्रम के अनुसार सूक्ष्म दृष्टि के बदले दृष्टि-सौक्ष्म्य उचित होता। परन्तु व्यर्थ क्लिष्टता से बचने के लिए वैसा ही रहने दिया गया।

भाई, किधर जा रहे हो तुम
अपना ओक-लोक सब छोड़ !

"ओक-लोक" कुछ क्लिष्ट होने पर भी घर-बार से अधिक अर्थ वाले एक नये मुहाविरे के रूप में रक्खा गया है।

गुरुओं के सम्बन्ध में लेखक ने यथा सम्भव श्रद्धा पूर्वक ही लिखने का प्रयत्न किया है। इसलिए पञ्चककारों के सम्बन्ध में कच्छ और कृपाण के समान कड़ा, केश और कंघी का महत्व स्वयं न मानते हुए भी उनके विषय में युक्तियों की कल्पना की गई है। कंघे का तो स्वतन्त्र कोई अस्तित्व ही नहीं। इस लिए केशों को ही "कंघी के सङ्गी" कह कर सन्तोष कर लिया गया है।

महा पुरुषों के विषय में अलौकिक बातों की प्रसिद्धि स्वाभाविक है। परन्तु आश्चर्य तो इस बात का है कि गुरु प्रायः करामातों से बराबर इनकार करते रहे; तब भी उनके सम्बन्ध में ऐसी बातों की चर्चा नहीं रुकी। महा पुरुषों में विशेष शक्ति का होना लेखक को अमान्य नहीं। किन्तु इस सम्बन्ध में उसने गुरु नानक जी और

गुरु तेग़बहादुर जी के आदेश का पालन किया है। कहते हैं, गुरु नानक को एक बार सिकन्दर लोधी ने इस लिए क़ैद कर लिया था क्योंकि उन्होंने चमत्कार दिखाने से इनकार कर दिया था। डाक्टर गोकुलचन्द नारंग ने लिखा है कि यह बात अधिक युक्ति सङ्गत मालूम पड़ती है कि गुरु नानक के निर्भीक आक्षेप, जिन्हें आज कल की परिभाषा में राजद्रोह कहा जावेगा, उनके बन्दी होने के वास्तविक कारण थे।

वस्तुतः गुरु नानक निर्भय होकर मुसलमानों के कट्टर धर्मोन्माद के विरुद्ध अपने विचार प्रकट किया करते थे और हिन्दुओं के दुःखों का रोना रोया करते थे। एक जगह उन्होंने कहा है—

"समय कटार के समान है। शासक हत्यारे हैं। धर्म पंख लगाकर उड़ गया है। असत्यता की अमावास्या सबके ऊपर राज्य कर रही है। सत्य का चन्द्रमा किसी को दिखाई नहीं देता।"

चमत्कार के विषय में लेखक ने गुरु नानक का वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है—

एक धूर्त विस्मय की बातें
करता था गुरु बोले—"जाय,

वड़े चमत्कारी हो तुम तो
अन्न छोड़कर पत्थर खाव !"

इसमें जो बात गुरु के मुँह से कहलाई गई है वह वास्तव में उन्हीं की कही हुई है।

इसी प्रकार गुरु तेगबहादुर ने औरंगजेब को करामात दिखाने से नाहीं कर दी थी। उनकी और औरंगज़ेब की बातचीत अधिकतर लेखक की कल्पनामयी है पर उसमें जो सत्य निहित है वह पूर्व का ही है।

कहते हैं, जब औरंगजेब के अत्याचार से गुरु अत्यन्त पीड़ित हुए तब उन्होंने उसे चमत्कार दिखाना मंजूर किया था। उन्होने एक पत्र अपने गले मे बाँध लिया था और कहा था कि इसे बाँधने पर गला नही कट सकता। किन्तु जब उनका गला कट गया और वह पत्र खोल कर देखा गया था तब उसमे यही लिखा था कि 'सिर दिया, पर सार न दिया !'

आगे वीर बन्दा के विषय मे भी एक बार यह प्रसङ्ग आता है। वैरागी के विषय में भी प्रसिद्ध था कि वह जादूगर है। इसीको सुनकर गुरु गोविन्दसिंह से प्रश्न कराकर उसका उत्तर दिलाया गया है—

नहीं अलौकिक कुछ जगती में,
चमत्कारिणी महसा दृष्टि;
चौंके होंगे देख प्रथम हम
चकमक की, चुम्बक की सृष्टि।

लेखक ने वैरागी को योगसिद्ध अवश्य माना है, जैसा कि उसके विषय में प्रसिद्ध है। पर इसे भी लेखक अलौकिक मानने के लिए तैयार नहीं—

एक महात्मा की संगति मे
साधा है मैंने कुछ योग;
अपनी ही विशेपताओं से
वञ्चित हैं बहुधा हम लोग।

सारांश, इसमें गुरुओं के विषय में उनकी अलौकिक बातें छोड़कर लेखक ने उनकी महत्ता दिखाने का प्रयत्न किया है और ऐतिहासिक महापुरुषों को पौराणिक रूप नहीं दिया। आशा है, उसने यह उचित ही किया है।

पर इससे गुरु के अनुयायी यह न समझें कि लेखक ने उन्हें साधारण कोटि में रक्खा है—लेखक ने गुरु नानक के विषय में कहा है कि—

निश्चय नानक मे विशेप था
उसी अकाल पुरुप का अंश।

इसी प्रकार गुरु गोविन्दसिंह को उसने ईश्वरी विभूति माना है—

इस विभूति का भी भागी था
पाटलिपुत्र अलौकिक ओक ।

और इसी विश्वास के कारण उसने उनको अधिक से अधिक अपनाने का प्रयत्न किया है । इसी कारण उन बातों को भी लेखक ने छोड़ दिया है जो उसे उनके गौरव के अनुरूप नहीं मालूम हुई ।

महापुरुषों के नाम पर कितनी ही झूठी सच्ची बातें प्रचलित हो जाया करती हैं । बहुधा लोग अपने भजनों के अन्त मे जोड़ देते हैं कि—'कहे कबीर सुनो भइ साधो' । रामायण मे भी कितने ही क्षेपक मिला दिये जाते हैं । पर इस सम्बन्ध में हमे सावधान रहना चाहिए । गुरु नानक के सम्बन्ध मे लेखक की राय में कुछ ऐसी ही बातें प्रसिद्ध है । जैसे सूर्य को जल देते देख कर गुरु का गंगाजी में अपने खेत के उद्देश से पानी देने लगना और यह कहना कि यदि यह पानी यहाँ से दो सौ मील मेरे खेत को नहीं पहुँच सकता तो लाखो मील दूर सूर्य को कैसे प्राप्त हो सकता है । अथवा मक्के जाकर काबे की ओर पैर करके सोने पर यह कह कर

मौलवियों की आपत्ति का उत्तर देना कि यदि कावे में पैर करके सोने से खुदा की ओर पैर करके सोना पड़ता है तो जिस ओर खुदा न हो उसी ओर मेरे पैर कर दो।"

किसी भी धर्म के सम्बन्ध में उसके आध्यात्मिक और लौकिक रूप को न समझने वाले ऐसी कुतर्कनाएं कर सकते है। पर महापुरुष कभी कुतर्कनाएं नहीं करते। हाँ, गुरु नानक का किसी नवाव के साथ उपासना करना इसलिए अस्वीकार कर देना कोई आश्चर्य कीबात नही कि उसका मन माया में उलझा हुआ था और शरीर से प्रणाम करता हुआ भी वह मन से कहीं घोड़े खरीद रहा था। परन्तु इस छोटी-सी पुस्तक में सब बातों का वर्णन असम्भव था।

जो हो, महापुरुषों के विषय में कोई किंवदन्ती सुनकर हमें सहसा उस पर विश्वास न कर लेना चाहिये। यह देख लेना चाहिए कि वह बात उनके गौरव के अनुरूप है या नहीं? सुना है, गुरु गोविन्दसिंह के विषय मे कहा जाता है कि उन्होने देवी का यज्ञ केवल लोक दिखाव के लिए किया था। परन्तु यह कहना मानों गुरु के महत्व को घटाना है। गुरु गोविन्दसिंह के समान पुरुष

के प्रति यह कहना उनका अपमान करना है कि 'उन्होंने अपने लाखो अनुयायियो को धोखे में रखकर एक ऐसे काम में अपने अमूल्य समय और विपुल धन का नाश किया जिसका उन्हे विश्वास न था।' सिक्खों के विषय में डाक्टर गोकुलचन्द नारंग का आर्ष कथन है—"इसमे कुछ सन्देह नही कि गुरु ने देवी को साक्षात् करने के स्पष्ट उद्देश से एक बड़ा भारी यज्ञ रचाया प्रतीत होता है।" उनकी राय में—देवी की सत्ता में सिक्खो का कुछ न कुछ विश्वास था और वे हवन आदि की फलोत्पादकता में भी विश्वास रखते थे।" इतना ही नही, कही कही तो लेखक को गुरुओं की रचना वैष्णव भक्तों की ही रचना जान पड़ती है। गुरु तेगबहादुर का एक पद सुनिए—

"साधो, गोविंद के गुन गाओ।"
मानुष जनम अमोलक पाया बिरथा काहे गँवाओ।
पतित पुनीत दीनबन्धू हरि ताहि शरण तुम आओ।
गज को त्रास मिटत जिहि सुमिरत तुम काहे बिसराओ।
तजि अभिमान मोह माया पुनि राम भजन चित लाओ।
नानक कहत मुकति-पंथा यह गुरु-मुख ह्वै तुम पाओ।

पटने के गुरुद्वारे की गद्दी के प्रसिद्ध महन्त बाबा सुमेरसिंह जी के विषय में श्रीयुक्त शिवनन्दनसहायजी ने

"सिक्ख गुरुओं की जीवनी' में लिखा है कि एक सिक्ख ने उनसे पूछा कि सिक्ख क्या हिन्दू हैं? आपने कहा—निस्सन्देह। स्वय गुरु का वाक्य है—

"जगै धर्म हिन्दू सबै भण्ड भाजै"

दशम ग्रन्थ मे उनका श्री मुख वाक्य है—

"तिलक जयूँ ताको प्रभु राखा,
कीन्हो वड़ो कलू मे साका।
साधुन हेतु इती जन करी,
सीस दिया पर सी न उच्चरी।"

स्वयं बाबा सुमेरसिंह ने एक बार काशी के गोपाल मन्दिर में हाथ जोड़ कर 'वाह गुरू की फतह' बोली थी और एक स्वर्ण-मुद्रा मन्दिर की देहली पर रख कर पूजा चढ़ाई थी। उनके साथी एक निहंग को यह बात बहुत खटकी। आपने मुसकरा कर उससे कहा—खालसा जी, आप परम गुरु आदि ग्रन्थ के इस वचन को याद कीजिए—

"आपै देव, देहरा आपै
आप लगावै पूजा;
जल तें तरँग तरँग तें जल है
कहन सुनन को दूजा।"

लेखक ने औरंगजेब और गुरु तेगबहादुर की बातचीत में इस पद्य का उपयोग किया है। बाबा सुमेरसिंह जी का एक कवित्त भी इस सम्बन्ध मे उद्धृत करना अप्रासङ्गिक न होगा—

'तेरी पाय सत्ता विधि पालत प्रगट बात,
तेरी पाय सत्ता है सुरेस रजधानी मैं।
तेरी पाय सत्ता सत नाम कौ प्रकास होत,
भगत स्वरूपनी गुरू की ज्ञान बानी मैं।
तेरी पाय सत्ता श्री गुरू गुविन्दसिंह जू की
सेवकाई पाइए सुमेरसिंह मानो मैं।'
करता कृपानी जोति जागती प्रमानी जग--
दम्बिका भवानी सुखदानी अनुमानी मैं!

महाराज रणजीतसिंह के विषय में हम देखते हैं कि वे ज्वालामुखी के दर्शन करने जाते हैं और उनकी ओर से ढाई ढाई सौ मन घी वहाँ चढ़ाया जाता है। उनके अन्तिम स्नान के लिए हरिद्वार से गङ्गाजल मँगाया जाता है। मृत्यु के समय उन्होने प्रसिद्ध 'कोहनूर' हीरा भी जगन्नाथ जी के मन्दिर या अमृतसर के सिखमन्दिर में दान करने की इच्छा प्रकट की थी। परन्तु तोशेखाने के अधिकारी बलीराम के न देने के कारण वह रह गया और अन्त

में अंगरेजी राजमुकुट में जड़ा गया।

सिक्खों को अपने स्वतन्त्र विचार रखने का अधिकार है, और लेखक उनमें बुद्धि-स्वातन्त्र्य की ही कामना करता है; परन्तु ऐतिहासिक सत्य को उलट पुलट कर किसी महापुरुष के विषय में जो मन में आया सो कहने का अधिकार किसी को न होना चाहिए।

जब से हिन्दुओं से अलग अलग रहने की भावना सिखों में फैली या फैलाई गई तभी से सम्भव है इस तरह की बातें भी कही जाने लगी हों। परन्तु लेखक का विनीत निवेदन है कि यह नीति हानिकारिणी है। धर्म को सङ्कीर्ण नहीं, उदार होना चाहिए। भेद बढ़ाने से हानि के अतिरिक्त लाभ कुछ नहीं। लेखक ने जहाँ तक हो सका मतभेद की बातों से अपने को बचाया है। यदि इस पुस्तक से हममें परस्पर कुछ भी एकता की प्रवृत्ति उत्पन्न हुई तो लेखक का सारा श्रम सार्थक हो जायगा।

इस पुस्तक में कहीं कहीं घटनाओं का वर्णन तिथियों के क्रम से न रख कर प्रसङ्गानुसार रक्खा गया है। जैसे गुरु हरगोविन्द जी की लोकप्रियता का वर्णन करते हुए लोगों का उनकी चिता में जल मरने का भी उल्लेख

कर दिया है, यद्यपि वहाँ उनके चरित की समाप्ति नही होती। लेखक ने 'तवारीख' न लिख कर गुरुओ का इतिवृत्त लिखने का प्रयत्न किया है।

सरहिन्दी सूबा के सामने गुरु के बच्चो की जो बातचीत लिखी गई है, सम्भव है, किसी किसी को यह उनकी अवस्था के अनुरूप न मालूम हो। परन्तु उन बालकों की तुलना साधारण बालको से नही की जा सकती। आजकल अँगरेजो की बात अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। महाराज रणजीतसिंह के पौत्र के विषय मे, जिसकी अवस्था केवल सात बरस की थी, कप्तान वोड ने जो कुछ कहा है उसे उद्धृत करते हुए श्रीयुत वेणीप्रसाद जी ने अपने महाराज रणजीतसिंह नामक ग्रन्थ मे उसका आशय इस प्रकार दिया है—

"मै ने ऐसा बुद्धिमान् बालक कभी नहीं देखा। यह बड़ा सुन्दर है, और इसकी बड़ी आँखो से एक अजीब भाव टपकता है। इसके अदब, कायदे और शिष्टाचार खासे भद्र पुरुषों के-से हैं, जिससे सहज ही इसकी तरफ मन खिंच जाता है और इस उम्र के योरोपियन बालकों में जो उद्दण्डता पाई जाती है, उसका इसमें कहीं लेश मात्र भी नही है। बातो बातों मे, मैंने उससे पूछा—"क्यो जी, क्या

यह तुम्हारी बन्दूक असली है, तुमने क्या कभी इसे चलाया है ?" मेरी बात सुनते ही वह क्रोध के मारे कुरसी पर से उछल पड़ा और चटपट अपनी बन्दूक भरकर कहने लगा—"कहिए, अब किस पर गोली मारूँ (चलाऊँ)?" मैं ने जवाब दिया कि "इस समय तो मैं कोई ऐसी वस्तु नहीं देखता जिस पर निशाना लगाना बजोखिम हो।" और साथ ही पूछा कि 'अच्छा, क्या तुम सौ गज की दूरी पर इस बन्दूक से किसी आदमी को चोट पहुँचा सकते हो ?" इसके जवाब मे बिना जरा हिचके उसने फौरन सामने के कुछ सिक्ख सरदारों और सिपाहियों की ओर इशारा करके कहा—"देखिये, ये सब तो अपने दोस्त हैं, मुझे कोई अंगरेज सरकार का दुश्मन बतलाइए, फिर देखिए मैं क्या कर सकता हूँ।"

इस प्रसङ्ग में लेखक अपने मित्र एक राजा के कुमार की चर्चा करने का लोभ नहीं संवरण कर सकता वह अभी बच्चा ही है। सम्भवतः बारह वर्ष का होगा। एक दिन एक ठाकुर साहब राजा साहब से मिलने के लिए आये। उनकी और राजा साहब की चुनाव-सम्बन्धी कुछ खट-पट चल रही थी। जाते समय ठाकुर साहब ने बच्चे से कहा—देखिए, कुँवर साहब, आपके दादा जी

हमारा विरोध करते है।" "कुॅवर साहब" उन दिनों अपनी रियासत के मैनेजर साहब से "पलासी का युद्ध" पढा करते थे। झट उन्होंने उसकी दो पंक्तियो को कुछ बदल कर एक विचित्र भाव-भङ्गी से पढ़ दिया—

"निश्चय ही मै युद्ध करूँगा, बदला लूँगा;
कुछ भी करे जनाब, आपको प्रतिफल दूँगा।"

दूसरी पंक्ति असल मे इस प्रकार है—

कुछ भी करे नवाब उसे मै प्रतिफल दूँगा।

इसे सुनकर सब लोग क्षण भर तक सन्न से रह गये।

फिर गुरु-पुत्रों के विषय में कहना ही क्या। यह तो निश्चय ही है कि उन्होंने अपना धर्म छोड़ने के बदले जीते जी चुना जाना स्वीकार किया था। जो बातें उनसे सूबा के प्रति प्रत्युत्तर के रूप में कहलाई गई है वे उनके लिए कठिन नही कही जा सकतीं। उनके पिता धर्मगुरु थे और मुसलमानो से उनका घोर विरोध था। उनके दरबार में इस तरह की बातों की चर्चा नित्य हुआ करती होगी और वे उसे सुना करते होंगे। अनेक पंक्तियां तो ऐसी हैं जो मानों पहले ही से उन्हे याद हो और इस अवसर पर उन्होंने उनकी आवृत्ति मात्र कर दी हो। अस्तु।

जिस पुस्तक में अनेक महापुरुषों और वीर बालकों के पुण्य चरित्रों का वर्णन हो उसमें स्त्री-चरित्र के लिए बहुत ही कम अवकाश पाना लेखक को बहुत खटका। कथाओं की अधिष्ठात्री, पवित्र भावों की प्रतिमा और रस की जीवनी तो कुलाङ्गनाएँ ही होती हैं। उन्हीं के पवित्र चरित्र के वर्णन से लेखनी अपने को कृतार्थ समझती है। परन्तु लेखक विवश था। उसे कल्पना की सहायता लेने का अधिकार था परन्तु चित्र चित्रण के लिए एक चित्रपट भी तो चाहिए। चमकौर युद्ध का वर्णन करते हुए डाक्टर गोकुलचन्द नारंग ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ "सिक्खों के परिवर्त्तन' में लिखा है—"गुरु के दो सब से बड़े पुत्र अजीतसिंह और जुझारसिंह तथा उन बालकों की माँ सुन्दरी का उनके सामने ही वध हुआ। स्वयं गुरु ने बड़ी वीरता के साथ युद्ध किया और अपने हाथों से नाहर खाँ को मार डाला और ख्वाजा मुहम्मद को घायल कर दिया।"

गुरु-पत्नी के सम्बन्ध में जो कुछ लेखक ने इस पुस्तक में लिखा है वह इन्हीं पंक्तियों के आधार पर। पाठक देखेंगे कि उसकी कल्पना सत्य की नींव पर खड़ी है।

गुरु गोविन्दसिंह जी की तीन स्त्रियाँ थीं—जैतीजी,

साहबदेवी और सुन्दरी। भाई परमानन्दजी ने अपने 'वीर वैरागी' में इस घटना के आगे भी सुन्दरी की चर्चा की है। लिखा है कि फरुखसियर ने भोली भाली गुरु-पत्नियों को भुलाकर बन्दा वैरागी के विरुद्ध सुन्दरी से पत्र लिखाया। परन्तु वहाँ भी दो पत्नियों का जीवित रहना पाया जाता है। सम्भव है नामों में कुछ भूल हो गई हो और वे सुन्दरी न होकर जैतीजी रही हों। बाबू शिवनन्दनसहायजी ने 'सिक्ख गुरुओं की जीवनी' में जैतीजी का मरना पहले लिखा है। कहा गया है कि उन्हें पुत्रों के मरने की बात पहले ही ज्ञात होगई थी। इसलिए उन्होंने उस दुर्घटना के पूर्व ही गुरु की आज्ञा से शरीर छोड़ दिया था।

इस सम्बध मे लेखक ने डाक्टर गोकुलचन्द्र जी नारंग से लिखा पढ़ी की थी। उन्होंने कृपा पूर्वक उत्तर दिया था कि लेखक बखटके उनकी बात पर विश्वास कर सकता है। वे अपने ५ जुलाई १९२८ के पत्र में लिखते हैं—

With reference to your letter of enquiry I regret I cannot throw any further light on the subject. I may, however, say that

you can safely rely on my book because thorough investigation was made by me at the time I wrote that book.

जिन पुस्तकों से गुरुओं के विषय में लेखक को यह पुस्तक लिखने में सहायता मिली है उनमें से कुछ का उल्लेख इस भूमिका में आ चुका है। उनके सिवा पण्डित ज्वालादत्त शर्मा कृत "सिक्खों के दस गुरु" और स्वर्गीय नन्दकुमार देवजी शर्मा की कई पुस्तकों से भी लेखक ने लाभ उठाया है। इसके लिए वह इन सब ग्रन्थकारों का कृतज्ञ है।

अन्त में एक बात और। मुसलमानों से गुरुकुल का सङ्घर्ष रहा है उनके विरुद्ध ही बहुधा उनके बलिदान हुए हैं। अतएव उन बातों की चर्चा अनिवार्य थी। परन्तु पाठक देखेंगे कि यथा स्थान लेखक ने मुसलमानों के प्रति सद्भाव प्रकट करने की भी पूरी चेष्टा की है। इस सम्बन्ध में, स्वयं बन्दा के मुँह से कहलाया है—

हिन्दू हो या मुसलमान हो,
नीच रहेगा फिर भी नीच;
मनुष्यत्व सबके ऊपर है
मान्य महीमण्डल के बीच।

अब तो वे विरोध के दिन भी चले गये और हम और वे एक ही स्थिति मे है। ऐसी दशा मे लेखक की यही प्रार्थना है—

हिन्दू-मुसलमान दोनो अब
छोड़ें वह विग्रह की नीति
प्रकट की गई है यह केवल
अपने वीरो के प्रति प्रीति।

चिरगाँव
मार्गशीर्ष शुक्ल ९-१९८५

——

श्रीगणेशायनमः

गुरुकुल

मङ्गलाचरण

जय कबीर-नानक-दादू का,
गान्धी का वाणी-विश्राम,
नवनवरूप पुराणपुरुष उन
लीलाधाम राम का नाम।

शुचि मानस मे ही प्रतिविम्बित
होता है प्रभु का रस-रूप;
पट की डोर लगे जब हरि से
पानी क्यो न भरे भव-कूप ?

श्रीगणेशायनमः

गुरुकुल

मङ्गलाचरण

जय कबीर-नानक-दादू का,
गान्धी का वाणी-विश्राम,
नवनवरूप पुराणपुरुष उन
लीलाधाम राम का नाम।

शुचि मानस मे ही प्रतिबिम्बित
होता है प्रभु का रस-रूप;
घट की डोर लगे जब हरि से
पानी क्यों न भरे भव-कूप ?

चला धन्य गुरु-विजय-पन्थ वह
यहाँ यवन-भय के ही सङ्ग;
ग्रहण-काल भी दे जाता है
मन्त्र-सिद्धि का योग अभङ्ग।
आर्त-अधीन हुआ था भारत,
अति कराल था सङ्कट-काल;
विजातियों के अभियानों से
कब के पीड़ित थे पाञ्चाल।
आर्य जाति की ऋद्धि-सिद्धि ने
दी थी उसे प्रथम जो शान्ति,
उससे अगति आगई उसमें,
यद्यपि उसे मिली विश्रान्ति।
पाकर विपुल विभव पुरखों का
बनें द्विजाति विलासी मात्र;
श्रम से विमुख उच्चकुल वाले
होते क्यों न पराजय-पात्र ?

योगी से भोगी होकर हम
अचल होगये अपने आप;
काम-क्रोध-मद-मोह-लोभमय
प्रबल होगये पाँचों पाप ।
आडम्बर में लगे छिपाने
अपनी धर्म-हीनता लोग,
फैले रूढ़ रीतियों वाले
मिथ्या विश्वासों के रोग ।
करके घृणा मात्र औरों पर
करते थे द्विज शुचिता सिद्ध;
किये गये निज-सम मनुजों को
घाट-बाट तक हाय ! निषिद्ध ।
एकगोत्रवालों में भी यों
उपजा ऊँच-नीच का भेद,
खान-पान मिट गया परस्पर,
छिन्न-भिन्न सब हुए सखेद ।
तब भी धन था, बिना परिश्रम
पाकर दान मान की आय
चलने लगा बिना पूँजी का
धर्म नाम वाला व्यवसाय !

मन्दिर और मठों में, जिनमे—
होती सफल मनुज-कुल-भक्ति,
फैली—कृपियुत कृपिग्रासिनी
वास-राशि-सी—पञ्चवासक्ति।
आश्रमधर्ममयी जीवन की
हुईं दिशाएँ चारो भ्रष्ट;
मनमाने पथ पर चल चल कर
होते थे नर निर्बल-नष्ट।
उस निष्काम कर्म के ऊपर
फैला वाममार्ग का जाल,—
नर-बलि तक सकाम साधन मे
थी कब की चल चुकी कराल!
वेद-विहीन विप्र औरों का
सह सकते कैसे स्वाध्याय?
बस, बहुतों के लिए होगई
श्रुति-संज्ञा भी मिथ्याप्राय।
वहाँ नारियों की शिक्षा क्या
जहाँ अशिक्षित हों नर आप?
चले व्यर्थभय-विस्मयमूलक
फलकामी बहु क्रिया-कलाप।

छाया था सब ओर यहाँ पर
उद्धत यवनों का आतङ्क;
देख धर्म पर दारुण सङ्कट
रहते थे सब सभय-सशङ्क।
तोड़ मूर्त्ति-मन्दिर, गो-वध कर,
करते अरि अविचार यथेच्छ;
हिन्दू-मुसलमान शब्दों के
अर्थ होगये काफ़िर-म्लेच्छ।
अब के मित्र शत्रु थे तब के
बली, विजाति, विधर्मी लोग;
धर्म-भ्रष्ट हमें करते थे
करके बहुधा बल-प्रयोग।
ग्रन्थ—ज्ञाननिधि—तक चिर सञ्चित
चाट रही थी उनकी आग;
निरुत्साह, नैराश्य और था
भयविषादमय विषम विराग।

गुरु नानक

मिल सकता है किसी जाति को
 आत्मबोध से ही चैतन्य;
नानक-सा उद्बोधक पाकर
 हुआ पञ्चनद पुनरपि धन्य।
साधे सिख गुरुओं ने अपने
 दोनों लोक सहज-सज्ञान;
वर्त्तमान के साथ सुधी जन
 करते हैं भावी का ध्यान।
हुआ उचित ही वेदीकुल में
 प्रथम प्रतिष्ठित गुरु का वंश;
निश्चय नानक में विशेष था
 उसी अकाल पुरुष का अंश।
सार्थक था 'कल्याण' जनक वह,
 हुआ तभी तो यह गुरुलाभ;
'तृप्ता' हुई वस्तुतः जननी
 पाकर ऐसा धन अमिताभ।

पन्द्रहसौ छब्बीस विक्रमी
संवत् का वह कातिक मास
जन्म समय है गुरु नानक का,—
जो है प्रकृत परिष्कृति-वास।
जन-तनु-तृप्ति-हेतु धरती ने
दिया इक्षुरस युत बहु धान्य;
मनस्तृप्तिकर सुत माता ने
प्रकट किया यह विदित वदान्य।
पाने लगा निरन्तर वय के
साथ बोध भी वह मतिमन्त;
संवेदन आरम्भ और है
आत्म-निवेदन जिसका अन्त।
आत्मबोध पाकर नानक को
रहता कैसे पर का भान ?
तृप्ति-लाभ करते वे बहुधा
देकर सन्त जनों को दान।
खेत चरे जाते थे उनके,
गाते थे वे हर्ष समेत—
"भर भर पेट चुगो री चिड़ियो,
हरि की चिड़ियाँ, हरि के खेत !"

वे गृहस्थ होकर त्यागी थे
न थे समोह न थे निस्नेह;
दो पुत्रों के मिष प्रकटे ये
उनके दोनों भाव सदेह।
त्यागी था श्रीचन्द्र सहज हो
और संग्रही लक्ष्मीदास;
यों संसार-सिद्धि युत क्रम से
सफल हुआ उनका सन्यास।
हुआ उदासी-मत-प्रवर्तक
मूल पुरुष श्रीचन्द्र सटीक,
बढ़ते हैं सपूत गौरव से
आप बनाकर अपनी लीक।
पैतृक धन का अवलम्बन तो
लेते हैं कापुरुष-कपूत,
भोगी भुजबल की विभूतियाँ
था वह लक्ष्मीदास सपूत।
पुत्रवान होकर भी गुरु ने,
दिखलाकर आदर्श उदार.
कुलगत नहीं, शिष्य-गुणगत हो
रक्खा गद्दी का अधिकार।

इसे विराग कहें हम उनका
अथवा अधिकाधिक अनुराग,
बढे लोक को अपनाने वे
करके क्षुद्र गेह का त्याग ।
प्रव्रज्या धारण की गुरु ने,
छोड़ बुद्ध सम अटल समाधि,
सन्त शान्ति पाते हैं मन में
हर हर कर औरों की आधि ।
अनुभव जन्य विचारों को निज
दे दे कर 'वाणी' का रूप
उन्हें कर्मणा कर दिखलाते
भाग्यवान वे भावुक-भूप ।
एक धूर्त विस्मय की बातें
करता था गुरु बोले—'जाव,
बड़े करामाती हो तुम तो
अन्न छोड़ कर पत्थर खाव !'
वही पूर्व आदर्श हमारे
वेद विहित, वेदान्त विशिष्ट,
दिये सरल भाषा में गुरु ने
हमें और था ही क्या इष्ट ?

उसो पोढ़ प्राचीन नींव पर
        नूतन गृह-निर्माण समान
गुरु नानक के उपदेशों ने
        खींचा हाल हमारा ध्यान।
दृपद्वती तट पर ऋषियों ने
        गाये थे जो वैदिक मन्त्र,
निज भाषा मे भाव उन्हीं के
        नानक भरने लगे स्वतन्त्र।
निर्भय होकर किया उन्होंने
        साम्यधर्म का यहाँ प्रचार,
प्रीति नीति के साथ सभी को
        शुभ कर्मों का है अधिकार।
सारे, कर्मकाण्ड निष्फल है
        न हो शुद्ध मन की यदि भक्ति,
भव्य भावना तभी फलेगी
        जब होगी करने की शक्ति।
यदि सत्कर्म नहीं करते हो,
        भरते नहीं विचार पुनीत,
तो जप-माला-तिलक व्यर्थ है,
        उलटा बन्धन है उपवीत।

परम पिता के पुत्र सभी सम,
कोई नहीं घृणा के योग्य,
भ्रातृभाव पूर्वक रह कर सब
पाओ सौख्य-शान्ति-आरोग्य।
"काल कृपाण समान कठिन है,
शासक हैं हत्यारे घोर,"
रोक न सका उन्हें कहने से
शाही कारागार कठोर।
अस्वीकृत कर दी नानक ने
यह कह कर बाबर को भेंट—
"औरों की छीना झपटी कर
भरता है वह अपना पेट!"
जो सन्तोषी जीव नहीं है
क्यों न मचावेंगे वे लूट?
छूटें कुटेंगे क्यों न भला वे
फैल रही है जिनमे फूट?
मिले अनेक महा पुरुषों से,
घूमे नानक देश विदेश;
सुने गये सर्वत्र चाव से
भाव भरे उनके उपदेश।

हुए प्रथम उनके अनुयायी
　　शूद्रादिक ही श्रद्धायुक्त,
ग्लानि छोड़ गुरु को गौरव हा
　　हुआ उन्हें करके भय-मुक्त।
छोटी श्रेणी ही मे पहले
　　हो सकता है बड़ा प्रचार
कर सकते हैं किसी तत्व को
　　प्रथम अतार्किक ही स्वीकार।
समझे जाते थे समाज मे
　　निन्दित, घृणित और जो नीच,
वे भी उसी एक आत्मा को
　　देख उठे अब अपने बीच।'
वाक्य-बीज बोये जो गुरु ने
　　क्रम से पाने लगे विकाश,
यथा समय फल आये उनमे,
　　श्रममय सृजन, सहज है नाश।
उन्हे सींचते रहे निरन्तर
　　आगे के गुरु-शिष्य सुधीर
बद्धमूल कर गये धन्य वे
　　देकर भी निज शोणित-नीर।

गुरु अङ्गद

निज दायित्व पूर्ण पद गुरु ने
दिया देख अङ्गद को धीर,
जो था बिना विचारे उनका
आज्ञापालन-सा सशरीर।
शिष्य, सिक्ख या सिख कहलाये
गुरु के अनुयायी आकृष्ट,
निज सजीवता से अभिन्न भी
हुए अलग से हमसे दृष्ट।
वे निज हिन्दू जाति-धर्म के
हुए सजग सैनिक ही सिद्ध,
जो हलधर थे आगे चलकर
करने लगे लक्षवर विद्ध।
लिखने पढ़ने का नव विधि से
गुरु अंगद ने किया प्रचार,
निज लिपिबद्ध किया नानक के
शील और शिक्षा का सार।

लंगर—भोजन-भवन—आपका
नित्य खुला था सबके अर्थ,
जो प्रचार में, प्रेम-वृद्धि में,
संघ-सिद्धि में हुआ समर्थ !
एक पंक्ति में, एक सङ्ग सब
वहाँ बैठते राजा-रंक,
ऐक्य भाव से यों सिक्खों का,
एक राष्ट्र बन गया अशंक।
होती नहीं वहाँ तन की ही
मनस्तृप्ति भी होती संग,
गुरु के उपदेशों से जन जन
पाता निज में नई उमंग।
जब हम भोजनार्थ जाते हैं
गुरु भोजन था जीवन-हेतु,
पीक न पैदा करते थे वे
निज मुख में निष्ठीवन-हेतु।
शिष्यों के संघटन हेतु ही
व्यय होती उनकी सब आय,
भोगे एक अनेकों का धन
यह तो है अति ही अन्याय !

सार्वजनिक हित-हेतु दान का
जाग उठा सिक्खों में भाव,
गद्गद था गुरु अङ्गद का उर
सफल देख अपना प्रस्ताव।
कहते थे वे निज पुत्रों से—
"सावधान, परधन है पाप,
भिक्षुक न हो, बनो व्यवसायी,
करो कमाई अपने आप।
औरों की सहायता करके
पाते वे आनन्द अपार,
यही दुःख था उन्हें, किसी का—
कर न सकें यदि वे उपकार।
शेरशाह से हार हुमायूँ
आया सुनकर उनका नाम,
दिया न अभ्युत्थान उन्होंने
ध्यान-निरत थे वे धृतिधाम।
क्रुद्ध हुआ वह, खड्ग खींचकर
कुछ कहने को था मुँह खोल,
तब तक पलक खुले गुरुवर के
और सुन पड़े ये दो बोल—

"शेरशाह के आगे तेरी
कहाँ गई थी यह तलवार ?
रख छोड़ी थी किसी साधु पर
धन्य देखने को क्या धार ?"
लज्जित हुआ हुमायूँ, गुरु ने
हँस कर कहा—"सफल हो शूर !"
जो विचारदर्शी होते हैं
उन्हें दीख पड़ता है दूर।
आया कभी न गुरु के मन में
किसी मनुज के प्रति दुर्भाव,
वाणी में कुवचन न कर्म में
कोई भी अनुचित वर्ताव।
पुत्रों ने प्रभुभक्ति और धन
माँग लिये थे यथा विवेक,
गुरु नानक से गुरु-सेवा ही
माँगी थी अङ्गद ने एक।
प्रभु-जन-सेवक को ही नानक
बतलाते थे सच्चा भक्त;
सेवा ही वह भक्ति-मूर्त्ति है
हमें दिखाई दे जो व्यक्त।

गुरु अमरदास

योग्य शिष्य ही गुरु बनते हैं,
गुरु अङ्गद ने भी सब सोच,
आत्मज रहते अमरदास को
दी गुरु-गद्दी निस्सङ्कोच।
देख उदासी मत के ऊपर
आकर्षित सिक्खों का ध्यान
दिया, पार्थ को हरि-सम, उनको
अमरदास ने गीता-ज्ञान।
"जिस प्रभु ने परलोक बनाया
रचा उसीने है नरलोक;
पालन करें धर्म हम अपना
फिर हमको क्या भय ? क्या शोक ?
"घर में रह कर भी व्यसनों से
बचे रहो तब तो है बात,
देखो कहीं लिप्त होता है
जल में रह कर भी जलजात।

क्लीव, कापुरुष ही असमय में,
छोड़ भागते हैं संसार;
शूर सजीवों का मिलता है
यहाँ आप ही जगदाधार।
कहो, तुम्हारे लिए दूसरे
करें कहाँ तक अन्नोत्पन्न ?
होकर बल-सम्पन्न व्यर्थ क्यों
होते हो तुम यों अवसन्न ?
'शान्ति शान्ति' कहते हो पर क्या
मिल सकती है ऐसे शान्ति ?
तन्द्रा को समाधि समझो जो
जागो भाई, त्यागो भ्रान्ति।"
"होकर भी प्रायः शतायुगुरु
करते थे श्रम से सब काम,
बोला एक पीर—"क्यों अब भी
आप नहीं करते आराम ?"
गुरु ने हँसकर कहा—"एक जन
छाना करता था बस धूल,
उसमें जब कुछ मिल जाता तब
खिल जाता वह, जैसे फूल।

किसी उदार धनी को आई
दया, देख उसका यह हाल,
दिया एक हीरा धीरे से
उसने वहाँ धूल में डाल।
उसको पाकर धनी हुआ वह,
प्राप्त हुए सब धरणी-धाम;
किन्तु न छोड़ा फिर भी उसने
धूल छानने का वह काम।
वह दानी बोला तब उससे—
'अब यह हाय हाय क्यों, बोल ?'
उसने उत्तर दिया कि 'इसमें
मिलते हैं हीरे अनमोल !'
भाई, तुम्हीं बतादो फिर मैं
छोड़ूँ कैसे ऐसे यत्न,
जिनमें मुझे प्राप्त होते हैं
जीवन के धन, मन के रत्न ?"
एक बार अकबर ने गुरु को
देने चाहे बारह गाँव;
और जमाना चाहा उसने
उनके अधिकारों में पाँव।

धन्यवाद देकर गुरु बोले—
"हम स्वतन्त्र ही अच्छे वीर;
दे रक्खी है हमें राम ने
यों ही मनमानी जागीर।"
मञ्च-स्थापित किये उन्होंने,
बना दिये प्रतिनिधि सर्वत्र;
सिक्ख संघटित हुए और भी
पाकर उनका छाया-छत्र।
एक बार सेनायुत अकबर
रहा बहुत दिन तक लाहौर
त्राहि त्राहि कर उठी प्रजा सब
महँगी फैल गई सब ठौर।
आते है सम्राट द्वार पर,
वह विभूति रखते है सन्त!
योग्य कार्य कुछ लगा पूछने
मिलकर गुरु से वह गुणवन्त।
गुरु ने प्रजा-कष्ट वर्णन कर
क्षमा कराया कर उस वर्ष;
औरों के सुख मे ही मानो
रहता है सुजनों का हर्ष।

बढ़ी निरन्तर लोकप्रियता
सिख गुरुओं की इसी प्रकार,
जन साधारण भी सुधर्म का
सार समझते है उपकार ।
गुरु-पत्नी चिन्तित रहती थी—
बेटी का हो कहाँ विवाह ?
गुरु ने पूछा—"कैसे वर की
उसके लिए तुम्हे है चाह ?"
"रामदास जैसे सुपात्र की"
वह था उनका प्यारा शिष्य,
"तो फिर चिन्ता हो क्या, उसका
है अपने ही हाथ भविष्य ।"
जो गद्दी के योग्य युवक था,
होता क्यो न सुता के योग्य ?
क्या जाने होजाय प्रकट कब
किसके भूरि भाग्य का भोग्य !
भानुकुमारी भाग्यवती थी,
इसमे हो किसको सन्देह ?
घर आकर ही जिसे योग्यवर
मिला मनोहर सब गुण-गेह ।

यह जैसी सुलक्षिणी सुन्दर
थी वैसी ही चतुर विशेष,
स्वयं सिद्धि-सी प्रकट हुई थी
धारण किये सुता का वेष।
एक बार चौकी पर बैठे
अमरदास करते थे स्नान,
देख एक पाया भानी को
हुआ टूट पड़ने का भान।
सत्वर स्वकर लगा कर उसने
झेल लिया उस पर सब भार,
किन्तु कील घुस गई हाथ में
बहने लगी रुधिर की धार!
वृद्ध शरीर न सँभले गुरु का
गिरे और आजावे चोट,
यही सोचकर झट पट उसने
दी थी कोमल कर की ओट।
रक्त देख कर चौंके गुरुवर,
ज्ञात हुआ उनको सब भेद;
पुलकित-कम्पित हुए सहज हो
एक संग सानन्द-सखेद।

"बेटी, तू कुछ माँग" किन्तु वह
बोली—"क्या है मुझे अभाव !"
तदपि पिता के हठ करने पर
उसने किया एक प्रस्ताव— ।
"अपनी गद्दी का जो हमको
दिया आपने है अधिकार
रहे हमारे ही कुल में वह,
माँगूँ मैं क्या और उदार ?"
क्षण भर चुप रह कर गुरु बोले—
"जैसी हरि की इच्छा, अस्तु;
ह्रास-वृद्धि दोनों पाती है
परिवर्त्तन से कोई वस्तु ।
कुलगत होने पर भी गुरुपद,
ज्येष्ठ मात्र होने से ज्येष्ठ,
पा न सकेगा, गुरु-गौरव के
गुण न हुए यदि उसमें श्रेष्ठ ।"
नूतन गाँव बसाया गुरु ने
विश्रुत व्यास नदी के तीर;
उपनिवेश सा नया बनाकर
बसे जहाँ आकर सिख वीर ।

वापी बनआई, जिसमे थी
चौरासी सीढ़ियाँ सुढार,
एक एक जो लाख लाख की
याद दिलावें बारंबार ।

जारी
निक निर्माण,
अमृतसर
ी नव प्राण।
की ही
ाद का भान
वे थे
गौरवागार।
कभी वह
भव की भुक्ति;
मिप मानों
ान में मुक्ति।
दोनों की
उनसे वृद्धि,
मेलापा
रक्षित ऋद्धि।

किसी धनी सज्जन ने उनको
मणिमय हार दिया उपहार,
एक साधु याचक को गुरु ने
दिया उसी क्षण वही उतार।
खिन्न हुआ वह धनी देख यह
गुरु ने उसको दिया प्रबोध—
"मेरा तोष इष्ट था तुमको
तो तुम क्यों करते हो क्रोध?
धन्य तुम्हारी एक भेंट यह,
हम दो दो जन हुए निहाल;
भाई, इसे न भूलो—लक्ष्मी
चलती फिरती है चिरकाल।
धन का लाभ यही है—उससे
पावें जितने जन परितोष,
और नहीं तो देखा करिए
सॉप बनें बैठे निज कोष!"
देनी चाही भूमि इन्हें भी
अकबर ने आग्रह के साथ;
पर गुरु ने रक्खा अपने को
एक मात्र हरि के ही हाथ।

रामदास जैसे गुरु के भी
पृथ्वीचन्द्र-सदृश सुत हाय !
वे कुलदीपक थे, पर यह था
कुल-कलङ्क—कज्जल-समुदाय ।
कुलगत होने पर भी क्यों कर
देते वे उसको अधिकार,
शिष्यों के दोनों लोकों का
था जिनके ऊपर सब भार ?
मध्यम महादेव सुत उनका
रखता था कुल-शील-सुवास,
पर पितृवन-वासी धूर्जटि-सा
था विजनप्रिय परम उदास ।

गुरु अर्जुन

लौकिक और पारलौकिक गुरु
हो जो, अर्जुन ही था एक,
छोटे को ही बड़ा बनाकर
किया चतुर गुरु ने अभिषेक।
रहे न सद्गुरु ही गुरु अर्जुन,
हुए छत्रधारी नृप आप;
न्याय और शासन दोनो मे
था उनका यश और प्रताप।
श्रेय, प्रेय दोनो देने की
देख एक सी उनमे शक्ति
क्या अचरज उनमे सिक्खो की
प्रकट हुई यदि दुगनी भक्ति ?
क्षुद्र गाँव था प्रथम अमृतसर,
हुआ वहाँ अब नगराकार;
बना राजधानी वह गुरु की
और सिखों का तीर्थ उदार।

बनवाया हरि-मन्दिर गुरु ने
अपने लिए उटज भी एक;
मन्दिर से लेकर कुटीर तक
बतलाया विभु-वास-विवेक।
बना तरनतारन तड़ाग वह
भाव-पूर्ण है जिसका नाम-
तरना ही तारक है अपना-
निज करगत है निज परिणाम।
किया ग्रन्थसाहब से गुरु ने
संग्रह और सङ्कलन सार;
जिसमे काव्य-रङ्ग से दर्शन,
आचारों के सङ्ग विचार।
हुआ असल में सिख-समाज का
वही अलौकिक आदिग्रन्थ,
विविध सन्त-मानस-धाराएँ
पा बैठीं प्रयाग का पन्थ।
किया गया नियमित-निर्द्धारित
आय और व्यय का परिणाम;
चलता है आकाश-वृत्ति से
भला किसी उपवन का काम?

शाही कर से गुरु-कर सुखकर,
मानेगा यह कौन न मत्त ?
वह भयमय, यह भक्तिभावमय,
वह गृहीत, यह स्वयं प्रदत्त।
प्रचलित किया सिखों में गुरु ने
घोड़ों का विस्तृत व्यवसाय;
अश्वारोही हुए सहज वे
और हुई ऊपर से आय।
यों विदेश-यात्रा का उनमें
आया साहस युत उत्साह;
नई नई बातों का अनुभव
हुआ उन्हें, जिसकी थी चाह।
किन्तु डाह रखता था गुरु से
पामर पृथ्वीचन्द्र विशेष;
बाहर के वैरी से बढ़कर
होता है घर का विद्वेष।
गुरु-शिशु को विष दे जो, उसने
एक पूतना की तैयार;
किन्तु लिप्त विष के प्रभाव ने
डाला स्वयं उसी को मार।

एक बार गुरु के भोजन में
उसने विष का किया प्रयोग,
प्रकट होगया किन्तु भेद झट
लगने से पहले ही भोग।
कौन मार सकता है उसको
रक्खे जिसको जगदाधार ?
त्याग दिया उस कुलकलङ्क को
दे दे कर सबने धिक्कार।
तब उसने अभियोग चलाया
किन्तु नहीं निकला कुछ सार,
जिसे योग्य समझें गद्दी दें,
गुरुओं को था यह अधिकार।
होकर भी लाखों सिक्खों के
वे सम्राट विराट-विधान
अपने को सबका सेवक ही
कहते थे नय-विनय-निधान।
था सुडौल उदयाद्रि शिखर-सा
जैसा सुन्दर उनका डील,
वैसा ही उज्वल प्रकाश-सम
था उन्नति मय शोभन शील।

पूछ उठे श्रीचन्द्र एक दिन—
"यह लम्बी दाढ़ी किस हेतु ?"
बोले गुरु कि "आप सन्तों की
पद-रज पोंछ सकें, इस हेतु !"
सिक्खों का विस्तार बराबर
बढ़ता जाता था सब ओर;
एक राष्ट्र का रंग। ढंग से
चढ़ता जाता था सब ओर।
किन्तु विरोध बिना वीरों में
कहाँ जागता है वह क्रोध,
जिससे स्वबल बोध हो उनको
और ले सकें वे प्रतिशोध।
लवपुर का प्रधान था गुरु का
सजातीय जन चन्दूसाह,
करना चाहा निज कन्या का
उसने गुरु-सुत-सङ्ग विवाह।
किन्तु घमण्डी पाकर उसको
गुरु ने किया न सम सम्बन्ध,
जो पहले पद के मद से था
अब वह हुआ क्रोध से अन्ध !

गुरु-विरुद्ध भर दिये शीघ्र हा!
उसने जहाँगीर के कान,
बहुधा औरों की आँखों से
देखा करते हैं श्रीमान।
गुरु-वाणी सह संग्रहीत थे
जिसमें कुछ सन्तों के गीत,
गया 'ग्रन्थसाहब' बतलाया
इस्लामी मत के विपरीत।
"पथ पंथ ही है" गुरु बोले—
"एक ठौर सब का गन्तव्य,
गति है अपनी मति के ऊपर,
यही एक सों का मन्तव्य।"
बादशाह ने कहा—"ठीक है,
मेरा मज़हब है इस्लाम,
लिखें हमारे हजरत का भी
गुरु 'ग्रन्थसाहब' में नाम।
"लिख सकता हूँ यदि मेरा प्रभु
मुझे प्रेरणा करे पुनीत,
लिख न सकूँगा किन्तु किसी के
तोष-हेतु या भय से भीत।"

राजद्रोही कहे गये गुरु
भर कर झूठी-सच्ची साख,
सुनी गई उनकी न एक भी
दण्ड हुआ उन पर दो लाख ।
समझा गुरु ने अविचारी को
दो कौड़ी देना भी पाप,
सहा उसे धीरज से जो कुछ
दिया गया उनको सन्ताप ।
चाहा चन्दूशाह कुटिल ने—
करलें अब भी वे सम्बन्ध;
पिसकर किन्तु पटीर और भी
प्रकटित करता है निज गन्ध ।
सह न सके सिख शूर वीर यह
यवनों की सत्ता का दम्भ,
गुरु अर्जुन की बलि से उनका
हुआ अपूर्व यज्ञ आरम्भ ।
देते जाते हैं प्राणाहुति
अब भी बढ़कर वे बड़भाग
सींच रहे हैं निज शोणित से
वीर बराबर गुरु का बाग !

सचमुच स्वर्ण धातु से गुरु ने
गढ़े आप ये अपने पात्र,
तप तप कर होते जाते हैं
जो अधिकाधिक उज्वल गात्र ।

धार्मिक सामाजिक बातो मे
प्राप्त कर चुकी थी विख्याति,
राजनीति के रणक्षेत्र मे
उतरी अब सिक्खो की जाति ।

अस्थिसार देकर शूरों ने
उसको उर्वर किया अनन्य,
सुफल सिक्ख-साम्राज्य सरीखा
पाया रणजीतो ने धन्य ।

गुरु अर्जुन ने निज बलि देकर
मानो किया शिला-विन्यास,
चुना सिखों ने उस पर अपना
अम्बरचुम्बी कीर्त्तिनिवास !

गुरु हरगोविन्द ।

योग्य पिता के योग्य पुत्र थे,
हरगोविन्द छठें गुरुवर्य,
परशुराम सम युगधर्मों का
जिनमे साहचर्य-सौकर्य ।
एक पिता का बदला लेगी,—
एक हरेगी यवनातङ्क,
बाँधा करते थे यह कह कर
वे दो दो असियाँ निःशङ्क ।
न था व्यक्तिगत, था समष्टिगत,
यवनो से गुरुवंश-विरोध;
थे कितने ही मुसलमान जन
जो उनसे पाते थे बोध ।
शान्त वीर विक्रान्त सिखो मे
आने लगी क्रान्ति भरपूर;
पर विद्रोह-केतु लेने का
अवसर था अब भी कुछ दूर ।

पाने लगे शस्त्र-शिक्षा वे
करके जब तब सैर-शिकार;
दृढता तो गुण ही है सब का,
रहे क्रूरता क्यों न विकार।
तनु तरु है, आरोग्य मूल है,
फल ? धर्मार्थ-काम-कैवल्य;
मल्लकलाप्रिय गुरु रखते थे
बहु विनोद वीरोचित बल्य।
क्या जीतेंगे अन्तरङ्ग अरि
जो न जीत पाये वहिरङ्ग ?
रहे सबल तन-मन दोनों सम,
यही सकल जीवन का ढङ्ग।
लोहागढ़ बनवाया गुरु ने
किये शस्त्र उसमें एकत्र,
हुए कण्टकित वही गुल्म अब
रखते थे जो केवल पत्र।
बड़े बड़े मुनि तक चूके हैं
कब चूके हैं पिशुन परन्तु !
अङ्गी ही होते हैं वहुधा
लीख-जुएँ-से ये जड़ जन्तु॥

"गुरु सेना संग्रह करते है,
बनते हैं स्वतंत्र सम्राट,
ऐसा करते है जिससे हो
शाही शासन बारहवाट ।
सिक्खों को शिक्षा देते है—
'बाँधो अस्त्र-शस्त्र सब लोग,
करो विदेशी-विधर्मियों के
प्रति यथेष्ट उनका उपयोग ।'
डाकू, चोर, लुटेरों को भी
देते है वे आश्रय ओह !
छोड़ स्वजाति प्रजा लुण्ठन वे
करें विजाति-राज-विद्रोह !
गुरु है, इससे सेवमत के
सैनिक हैं उनके सब सिक्ख;
जो थे बैल हाँकनेवाले
अश्वारोही हैं अब सिक्ख ।"
"राज-वैर की आग भरे है
ऐं, यह साधुपने की राख ?
अच्छा लिये जायँ पहले तो
पूर्व दण्डवाले दो लाख ।"

"पूज्य पिता के प्राणों से भी
हुई नहीं क्या उनकी पूर्त्ति ?
हाय ! अगण्य हुए हम ऐसे !"
अति गम्भीर हुई गुरुमूर्त्ति ।
फिर भी रोप रोक कर वे यों
बोले वचन सहज ही भव्य—
"नहीं दे सके जिसे पिताजी,
मै कैसे दूँगा वह द्रव्य ?"
कहा सिखों ने—"आज्ञा हो तो
चार लाख कर दें एकत्र ?"
गुरु ने कहा—"किसे देने को ?
जो है धर्म-शत्रु सर्वत्र !
यह धन कभी नहीं दूँगा मै,
स्वयं काल आवे तो आवे;
एक बाल भी पा न सकेंगे
यवन, भाल जावे तो जाव !"
दण्ड सुनाया गया उन्हे तब
देश-निकाला, कारागार,—
विना विरोध उन्होंने जिसको
किया पिता के सम स्वीकार ।

किन्तु आग लग गई सिखों को
सह न सके अब वे अपमान;
"होगा यह न हमारे रहते"
गरज उठे सब सिंह-समान।
"आज्ञा दो गुरुदेव दया कर,
हो जावे बस साका एक;
जुड़ें सभी हम जिसके नीचे
उड़े पुनीत पताका एक।
आप मुक्ति देने आये हैं
नहीं बद्ध होने इस भाँति;
मारेंगे, मर जावेंगे हम,
लड़ें शत्रु चाहे जिस भाँति।
हम थोड़े वे बहुत रहे सो,
किन्तु नहीं है हम कुछ क्षार,
उड़ जावेंगे पावककण-से
घासफूस-सा उन्हे पजार।"
गुरु ने शान्त किया शिष्यों को
कहा—"अधीर न हो यों वीर!
बन्धन भी अपना साधन हो—
यथा जीव के लिए शरीर!

स्वीकृत है मुझको यह बन्धन.
छूटे उस अनीति की भीतिः
कांटे से कांटा कढ़ता है,
यह है सहज सनातन रीति।
कारागार नहीं जाता हूँ
करके मैं कोई अन्यायः
उलटा उसके ही विरोध का
करता हूँ यह एक उपाय।
यह निःशस्त्र युद्ध है अपना
क्रोध-जयी निष्क्रिय-प्रतिरोध;
शारीरिक सङ्घर्ष सहज है,
करलूँ प्रथम मनोबल-बोध।
समझो तुम—हरि के मन्दिर में
जाता हूँ मैं स्वयं सतृष्ण;
कंसों के कारागृह में ही
प्रकटित होते हैं श्रीकृष्ण!
सारी जाति मुक्त हो जिसमें
इसी हेतु होता हूँ बद्ध;
करो प्रतीक्षा कुछ दिन तक तुम
होकर साधनार्थ सन्नद्ध।"

कुछ शिष्यों के सङ्ग, रङ्ग रख
गढ़ गवालियर में हो बन्द,
भरदी सब सिक्खों में गुरु ने
सहज मुक्तिचिन्ता स्वच्छन्द ।
किया क्षोभ ने निर्भय उनको,
दिया भक्ति ने भावावेश;
फिर भी रक्त-पात करने का
मिला न था गुरु का आदेश ।
गढ़ के आगे जुड़ जुड़ कर वे
करते बहुधा उन्हे प्रणाम;
'जय गुरुदेव !' गिरा से जब तब
गूँजा करता वह गुरुधाम !
मियाँ मीर था एक पीर जो
गुरु-गौरव पर था अनुरक्त,
समझाया उसने विचार कर
जहाँगीर को अपना भक्त ।
"शत्रु बनाने योग्य नहीं गुरु
वे है मित्र बनाने योग्य;
छोटे हो या बड़े, किन्तु हैं
मानी सदा मनाने योग्य ।

ज्वालामुखी समान समझिए,
किसी प्रजा के जी की चोट,
भीतर ही भीतर पक कर वह
दिखलाती है द्रोह-स्फोट।
जन-स्नेह तक ही जगते हैं
जग में राजकुलों के दीप,
तात आपके पक्षपात को
आने देते थे न समीप।
विजातीय शासन रखता है
जब तक सब धर्मों का ध्यान
खलता नहीं तभी तक उतना,—
ऊपर पर जल-उपल-समान।
ऐसा दोष न था अर्जुन का
मिला उन्हें है जैसा दण्ड;
भुला रहा है आह! आपको
अब भी चण्डूशाह प्रचण्ड।
साध रहा है वैर व्यक्तिगत
करके ऐसे अनुचित यत्न;
बना रहा था जामाता वह,
जना रहा है जिसे सपत्न।

लोग भूल जाते हैं उपकृत
होकर पहले के अपकार;
यों गुरु-मुक्ति-निदेश दीजिए
ज्यों तप के ऊपर आभार !
कभी विरोध करेंगे यदि वे
तो असमर्थ नहीं कुछ आप;
और आपको दे न सकेगा
तब कोई अब-सा अभिशाप।"
यों निष्कृति-निदेश पाकर भी
रहे स्वयं गुरु गढ़ में बन्द;
और बहुत बन्दी थे उसमें
कैसे होंगे वे स्वच्छन्द ?
जा न सके थे यथा नरक से
धर्मराज अपनों को छोड़
सदयहृदय गुरु जा न सके त्यों
उन बेचारों से मुँह मोड़।
बादशाह हो गया और भी
आकर्षित अब उनकी ओर,
बोला—"छोड़ दिये जावें सब
छोड़ें जो न गुरू का छोर।"

गूँजी उज्वल नील गगन में
सघन गिरा "जय जय गुरुदेव !"
बन्ध काटने को औरों के
बँधे आप निर्भय गुरुदेव !"
जिन्हें छुड़ाया था गुरुवर ने
शिष्य हुए वे सब श्रीमन्त,
होता है अनुगतता में ही
आकर कृतज्ञता का अन्त।
गुरु ने आनबान यों अपनी
रक्खी स्वाभिमान के साथ,
वैर लिया चन्दू से उसकी
कुगति कराकर हाथों हाथ।
एक विशेष जाति के घोड़े
दूर देश से कोई भक्त
लाया गुरु-रवि हेतु सिन्धु-सा
मथ कर उच्चैश्रवा सशक्त !
बादशाह के योग्य समझ कर
वे तुरङ्ग तीनों के तीन
लिये बीच में ही उस जन से
लाहौरी नाज़िम ने छीन।

बादशाह ने हर्षित होकर
किया एक काज़ी को भेंट,
किन्तु यज्ञ-हय मानो गुरु के
हरे गये ये मैत्री मेंट।
लिया उन्होंने सहज युक्ति से
काज़ी से स्ववाजिवर छीन,
किन्तु हुई उसकी प्रिय बाला
आकर अपने आप अधीन।
अङ्गीकार किया गुरुवर ने
गुणग्राहिणी उसको जान,
ये दो रहे न्यून भी तो क्या—
रमणी का कुल, मणि की खान;
जयलक्ष्मी-सी पाई गुरु ने,
रक्खा उसका कमला नाम;
बनवा दिया कमलसर नामक
चिरकालीन चिन्ह अभिराम।
हुआ प्रथम संघर्ष इसी मिस
सिक्खों का यवनों के संग,
उन आधों से भी कम में थी
दूनी से भी अधिक उमङ्ग।

प्रथम परीक्षा में ही गुरु के
शिष्य हुए पूरे उत्तीर्ण.
झंझा के झोकों से घन-सम
हुआ यवन-दल विकल विदीर्ण ।
सत्रहवीं शताब्दि के अब भी
शेष रहे थे पन्द्रह वर्ष,
सत्तरसौ यवनो पर विजयी
हुए तीससौ सिक्ख सहर्ष ।
बल की जाँच हो चुकी थी यह,
अब भी थी कौशल की शेष;
दिया द्वितीय युद्ध में गुरु ने
इसके लिए उन्हे आदेश ।
पन्द्रह दिन पीछे फिर वैरी
चढ़ आये होकर आरूढ़,
हट हट कर इस वार सिखो ने
किया उन्हे कर्त्तव्य-विमूढ़ ।
दाँत पीस वे रहे रुआँधे,
हँस कर सिक्ख हुए आश्वस्त,
मरा तृतीय युद्ध मे नाज़िम
और हुई वह सेना ध्वस्त !

अश्व उड़ा लाया वे दो भी
जन विधिचन्द्र पूर्व का चोर;
एक चुरा कर और दूसरा
चोर पकड़ने के मिस ओर!
आते-आते कह आया वह
करके यवनों का उपहास—
"गुरु के—सच्चे बादशाह के—
घोड़ गये उन्हीं के पास।"
चढ़े चमू ले बड़े बड़े खाँ,—
अब्दुल्ला, सलीम, बहलेल;
पर घमण्ड उतरा उन सब का
खेला सिक्खों ने रण-खेल।
करने लगे प्रचार कार्य अब
गुरुवर रहकर कुछ दिन शान्त;
विधर्मियों पर विजयी होकर
वे लोकप्रिय हुए नितान्त।
अपनी लोकप्रियता का यों
कितने जन दे सके प्रमाण,
जिनके साथ चिता में जल कर
लोग दे सके हों निज प्राण?

यवन पयन्दा प्रिय सैनिक था,
गुरु ने दिया उसे सम्मान;
पर वह करने लगा उपेक्षा
अपने को ही सब कुछ जान।
वे कृतघ्न जो किया न मानें;
पर जो उलटा करें विघात ?
मिला वैरियों से जाकर वह,
कुल मे पहुँच गया कुलजात।
वैरी स्वयं बन्धु भी गुरु का
था पृथ्वी का पुत्र विरुद्ध,
और उधर चन्दू का बेटा
पहले ही था उन पर क्रुद्ध।
प्रेरक काल बना दिल्लीश्वर—
कुपित हुए ये तीनों दोष;
'मै भी कुछ औषध रखता हूँ'—
गुरु ने भी यों कहा सरोष।
गरजी फिर सगर्व रणचण्डी
मचा घोर घन-सा घमसान;
अरुण तीर्थ-शोणित-धारा मे
किया धरा ने पान-स्नान !

भट बढ़ते थे, कट गिरते थे,
चढ़ते थे झटपट फिर और;
मानों प्रथम पर्व पाने का
आग्रह था उनको उस ठौर।
लड़ते रहे भटों से भट, पर
रहा पयन्दा पर गुरु-लक्ष;
पाकर उसको बोले वे यों—
"दिखला अब वह दर्प समक्ष !"
उसने वार किया पर निष्फल,
गुरु ने कहा गदा कर शल्य,
"देख पाल ही नहीं, मार भी
सकता हूँ मैं तुझे मुसल्य !"
मारा चन्दू के सुत को भी
दला उन्होंने उसका दाप —
"क्या कर सकता था तू मेरा,
कर न सका कुछ तेरा बाप !"
किया एक वैरी ने उन पर
बड़े वेग से विकट प्रहार,
गुरु वच बोले-"अन्धा होकर
किया नहीं जाता है वार।

"देख, दिखाऊँ—अब मैं कैसे
तोली जाती है तलवार;"
मर कर वहीं सो गया वैरी—
खर तर खड्ग होगया पार !
फिर इस वार हुई विजयश्री
गुरु की ही, जो थे वर-पात्र ।
वारी तो वह गई कभी थी,
यह तो थी फिर स्वीकृति मात्र !
अब समर्थ हो उठे सिक्ख यों
साधन करने को निज कार्य्य,
और समय भी आलमगीरी
आता जाता था अनिवार्य्य ।
न थे वैतनिक ही गुरु-सैनिक,
शिष्य स्वयं सेवक थे सर्व;
जगा दिया था उनमें गुरु ने
जाति-धर्म-गौरव का गर्व ।

गुरु हरराय

यह पहला प्रयास था, इससे
आवश्यक थी कुछ विश्रान्ति,
गुरु हरराय-समय मे मानों
रही इसी कारण से शान्ति ।
ये गुरु हरगोविन्द-पौत्र थे
पितृ-विहीन, ममता के योग्य;
किन्तु साथ ही अपने कुल की
गद्दी की क्षमता के योग्य ।
तेगबहादुर आदिक इनके
चरितवान चाचा थे चार,
किन्तु बनाये गये यही गुरु
करके दोनों ओर विचार ।
दृढ होकर भी सदय-हृदय थे
शील-संयमी गुरु हरराय,
टूट न जाय फूल भी कोई—
अपने आप भले झड़ जाय ।

प्रभु-गण गाते गाते बहुधा,
हो जाते वे भाव-विभोर;
उनकी वाणी में वह बल था
खींच सके जो अपनी ओर ।
पटियाला-नाभादि नृपों का
आदिपुरुष अनुगत वह 'फूल',
सुफल पा सका था सो इसका
था गुरु का प्रसाद ही मूल ।
आकर हिन्दुस्तान, मिला था
गुरु से टर्की का सुलतान,
और धर्म-विषयक बातें कर
तुष्ट हुआ था वह मुद मान ।
"ईसा, मूसा और मुहम्मद
किसको बढ़कर माना जाय ?
मुक्ति-लाभ करने में समधिक
हो सकता है कौन सहाय ?"
जब उसने आकर यह पूछा
गुरु ने उत्तर दिया तुरन्त,—
"हम लोगों की प्रकृति विषम है,
सम हैं अमृत-पुत्र सब सन्त ।

उसके लिए वही बढ़कर है
जिससे जिसकी रुचि मिल जाय,
किन्तु मुक्ति पाने में होंगे
केवल अपने कर्म सहाय।
परमात्मा के नियम अटल हैं,
तोड़ सके या तोड़े कौन?
सूर्य, चन्द्र, तारों की गति को
मोड़ सके या मोड़े कौन?
सन्त चाहते हैं सबका शुभ
फिर भी है वह हरि के हाथ,
जो जैसा करता है उसको
देता है वैसा वह नाथ।"
जिनके आचारों से मिटता
मोहित जन के मन का रोग;
क्यों न मेटते उपचारों से
वे दारा के तनु का रोग?
पर औरंगज़ेब दारा पर
सहता कैसे गुरु का प्रेम?
शाही सेना रोक जिन्होंने
जाने दिया उसे सक्षेम।

पिता और भ्राताओं से निज
जब निश्चिन्त हुआ वह दुष्ट,
तब गुरु को बुलवाया उसने
होकर मन ही मन अति रुष्ट।
आत्मज रामराय को गुरु ने
भेजा अपना प्रतिनिधि-रूप,
पर निकला बस ढूह मात्र वह
ऊँचता था जो उच्चस्तूप!
"मुसलमान की मिट्टी लेकर,
घट कुम्हार ने किये तयार,
हाहाकार पुकार उठे वे
आपं अवे मे पकती बार।"
बादशाह बोला कि लिखी है
तुम लोगों ने ऐसी बात!
भृकुटी कुटिल हो गई उसकी
समझा रामराय ने घात।
कहा कि—" 'बेईमान' पाठ है,
'मुसलमान' है लिपि का दोष।"
बादशाह हँस गया और यों
शान्त होगया उसका रोष।

गुरु जल गये, ग्रन्थसाहब का
सुन यों पाठ बदलना शुद्ध;
त्याज्यपुत्र उस चाटुकार को
कहा उन्होंने होकर क्रुद्ध,—
"निश्चित भावी मृत्यु-भीति से
रह न सके जो निजतानिष्ठ,
हो सकता है भला कभी वह
गुरु-पदवी पर कहीं प्रतिष्ठ?"

गुरु हरिकृष्ण

सुत कनिष्ठ हरिकृष्ण नाम का
  सात वर्ष से भी था अल्प,
दिया उसी को स्वपद उन्होंने
  किया न कुछ संकल्प-विकल्प।
रामराय, जो मरने पर भी
  होता सिक्खों का सम्राट,
शाही टुकड़ों पर जीता था
  श्वान-समान दूर दिन काट।
नीच धीरमल भी मल के सम
  हुआ धीर गुरुकुल से त्याज्य,
मिला शत्रु से रामराय-सा
  वह भी पाने को गुरु-राज्य।
लघु भी श्री हरिकृष्ण सुगुरु थे,
  निकली ठीक जनक की जाँच;
छोटा रहे रत्न पर तो भी
  नहीं निकलता है वह काँच।

रामराय ने बादशाह के
　　कान भरे सविनय सव्याज,—
"हुआ हुजूरी होने से ही—
　　मैं गद्दी से वञ्चित आज ।
बच्चा है हरिकृष्ण, सिखों को
　　रोक सके, उसकी क्या ताब !
बन न जायँ विद्रोही वे सब,
　　बह न जाय सारा पंजाब !"
ढुल जाते हैं लोग लाभ के
　　ऊपर जिधर ढुलाये जायँ;
हुक्म दे दिया बादशाह ने—
　　गुरु हरिकृष्ण बुलाये जायँ ।
दिल्ली में अँबेर-नाथ के
　　अतिथि हुए बालक हरिकृष्ण;
निज हिन्दू कुल-मर्यादा के
　　थे पूरे पालक हरिकृष्ण ।
अन्तःपुर मे उन्हे ले गये
　　बड़े प्यार से जयपुर-राज;
जुड़ आया झट कुलस्त्रियों का
　　वहाँ एक आनन्द-समाज ।

"आसन गुरु के लिए" भूप ने—
कहा, दासियाँ दौड़ी हाल;
तब तक लघु गुरु सरल-भाव से
बोले यों निज वचन रसाल—
"बच्चों का सच्चा आसन है
अपनी माताओं की गोद,"
कहते कहते बढ़े अहो वे
महिषी की ही ओर समोद।
वाणी सुन सब मुदितस्मित थे,
विस्मित हुए देख 'पहँचान';
उठा लिया गद्गद महिषी ने
उन्हें गोद में गौरव मान।
बादशाह भी हुआ चमत्कृत
उनका अनुपम ओज निहार;
करै गभीर नीर में भी ज्यों
निर्भय बाल-मराल विहार!
दोनों हाथों से वह उनके
धर दोनों कोमल कर, घेर,
"बच्चे, अगर एक थप्पड़ मैं
जड़ दूँ तो?" बोला हँस हेर।

"तब तो पकड़ा हुआ आप से
छूट जायगा मेरा हाथ !"
उत्तर दिया वहीं 'बच्चे ने'
हँस ग्रीवा-भङ्गी के साथ !
हर्षित हुए सभी यह सुनकर,
कहकर विस्मयपूर्वक—"वाह,"
"छोटा बच्चा बड़ा गुरू है !"
बोला रामराय से शाह ।

  

रामराय की, बादशाह की,
शङ्का कर मानो निरुपाय,
निकली और लेगई माता
ऐसे होनहार को हाय !
जाते जाते भी बालक बुध
दिखा गया निज बुद्धि-विलास;
भेज गया गुरु-चिन्ह स्वयं ही
तेगबहादुर गुरु के पास।

गुरु तेगबहादुर

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
गुरु-पदवी के पात्र, समर्थ;
तेगबहादुर, हाँ वे ही थे
गुरु-पदवी थी जिनके अर्थ।
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
पञ्चामृत-सर के अरविन्द;
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिनसे जन्मे गुरु गोविन्द।
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
भारत की माई के लाल;
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिनका कुछ कर सका न काल।
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
मर कर जिला गये जो जाति;
तेगबहादुर हाँ, वे ही थे
जिनके अमर नाम की ख्याति।

तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
हुए धर्म पर जो बलिदान,
तेगबहादुर, हाँ, वे ही थे
जिन पर है हमको अभिमान।
तेगबहादुर, तेगबहादुर,
है विभिन्न भाषा का नाम,
किन्तु अहा! उसके भीतर है
बस अपना ही आत्माराम।
रहते थे वे अलग शान्ति से,
न था उन्हे गद्दी का लोभ;
देता है सन्तोष जिन्हे प्रभु
उन्हे नहीं छू सकता क्षोभ।
हरिचिन्तन, हरिजन की सङ्गति,
थे उन अतिथिदेव के काम;
तेग़बहादुर ने पाया था
देग़बहादुर भी निज नाम।
किन्तु न थे मालाधारी ही
वे आचार-विचारी शुद्ध;
नाम-सत्यता दिखा चुके थे
तात-समय ही कर बहु युद्ध।

गुरु हरिकृष्ण पौत्र थे, तब भी
गुरु के पद पर थे आसीन;
उनकी इच्छा पूर्ण न करते
फिर कैसे वे इच्छा-हीन ?
वरा स्वयं गुरुता ने उनको,
हुए तदपि बाधक कुछ लोग;
पर नक्षत्रधारियों का है
जाता कहाँ छत्र का योग ?
देश-दशा देखी गुरुवर ने
विचरे ज्यों वन-मध्य मिलिन्द,
पुण्य पर्यटन-फल पटने में
पाया प्रकट पुत्र गोविन्द।
इस 'विभूति' का भी भागी था
पाटलिपुत्र,—अलौकिक ओक,
जिसे दे चुके थे चिर गौरव
चन्द्रगुप्त, चाणक्य, अशोक।
शासन था औरंगज़ेब का,
चारों ओर मचा था त्रास,
किया जारहा था बलपूर्वक
दिन दिन हिन्दूकुल का ह्रास।

बूढ़े बाप, बड़े भाई को
भूल गया था जिसका धर्म,
अन्य धर्मियों के प्रति उसने
किया न होगा कौन कुकर्म !
बनी काव्य-सङ्गीत-कला की
उसी शुष्क के समय समाधि,
उसने कहा—"गाड़ना ऐसे
उभर न पावे फिर वह व्याधि !"
कोप कृपा करके करता था
कूटनीति वह कुटिल, कठोर;
ऊपर से खिलतें देता था
भीतर से उनमें विष घोर !
न्याय माँगने आते उससे
साधु-सन्त जन सहज विनीत,
किन्तु हूल कर हाथी उन पर
जाता वह उद्धत अवगीत ।
राक्षस यज्ञनाश करते थे,
उसके मुल्ला भी स्वच्छन्द,
करते फिरते थे दल-बल से
आर्यों के धर्मोत्सव बन्द ।

देव यथा दैत्यों के भय से
आये थे दधीचि के द्वार,
कुछ काश्मीरी ब्राह्मण आकर
गुरु से करने लगे गुहार,—
"डूब न जाय हाय ! हे गुरुवर,
निज नन्दनवन-सा काश्मीर।
वरसाते है यवन-काल-घन
धेनु-रुधिर-धारा का नीर।
हिन्दू मुसलमान होते है,
मन्दिर मसजिद, यह अन्याय;
निज संस्कृति-साहित्य-सभ्यता
नष्ट हो रही है निरुपाय।
सहज सुन्दरी बहू बेटियाँ
हरी जा रही हैं हा आज !
रख सकते है एक आप ही
अपनी आर्य जाति की लाज।
एक सूत्र मे बाँध हमे जो
दें आयुर्बल तेज विशेष,
शिखा-सूत्र सब टूट रहे हैं—
छूट रहे हैं भाषा-वेष।

मतविभिन्नता होने पर भी
आते है अपने ही काम;
हम दोनों के लिए एक ही
दीख रहा है दुष्परिणाम।
नहीं जाति से ही हिन्दू हैं,
आप धर्म से भी हैं आर्य;
निज विचार-धारा स्वतन्त्र है
आदि काल से ही अनिवार्य।
ब्राह्म कर्म के साथ आप मे
क्षात्रधर्म भी है भरपूर;
कर सकता है और कौन फिर
विकट धर्म-सङ्कट यह दूर ?
मर सकते है, मरते भी है,
मार नहीं सकते हम दीन;
क्षत्रिय, जो थे शूर सिंह, अब
हुए शृगालों से भी हीन।"
गुरु गम्भीर होगये, बोले—
"सच कहते हो तुम हे विप्र!
अब अन्याय असह्य हुआ है,
छूटे यह अक्षमता क्षिप्र।

होता नहीं बड़ा परिवर्तन
दिये विना वलिदान विशाल;
करके दग्ध आपको दीपक
हरता है तब तम का जाल।
दान महान हमारा जितना
होगा उतना ही प्रतिदान।"
वोल उठे गोविन्द अचानक
"कौन आप-सा और महान!"
सभी सन्न थे, गुरु प्रसन्न थे,
हँसकर वोले—"अच्छी बात;
तात, तुम्हीं जैसों से होगा
मेरे ऐसों का प्रतिघात!
जाओ विप्रवरो, निर्भय हो
लिख दो वादशाह को पत्र—
'तेग़वहादुर मुसलमान हो
तो यह मत फैले सर्वत्र।
वही अग्रणी आज हमारा
हम सव हिन्दू उसके संग;'
देखो, क्या उत्तर देता है
इसका अन्यायी औरंग।"

उत्तर तो जाना समझा था,
आते नहीं वृकों को अश्रु;
बोला वह—"हाँ, तेगबहादुर !"
लगा झाड़ने गुम्फश्मश्रु ।
रामराय पहले ही उसको
भरता था गुरु के विपरीत,
हुक्म हुआ—"झट हाजिर हो वह
ले आओ जीते जी जीत !"
प्रस्तुत थे गुरुवर पहले ही
अब दिल्ली को दूर न मान,
वीर स्त्रियाँ विदा देती थीं
रो रो कर गाकर शुभ गान !
बरसे साश्रु-सुमन—जय जय से
गूँजा उनका उच्च अलिन्द;
"पिता ! पिता !" सन्नाटा छाया,
गद्गद हुए पुत्र गोविन्द ।
कहा पिता ने— "वत्स ! नहीं है
कातर होने का दिन आज;
व्यर्थ न होगी यह मेरी बलि,
जाग उठेगा सुप्त समाज ।

क्षात्रभाव ही आवश्यक है
भारत मे सम्प्रति सविशेष;
वही धर्म-धन जन-जीवन रख
रक्खेगा निज भाषा-वेष ।
जब हल, तुला और कुशधारी—
हों कृपाणधारी भी साथ,
तभी हमारे धाम-धरा-धन
जाति-धर्म सब अपने हाथ ।
जन्म-मृत्यु, ये दोनो है निज—
उठते गिरते पलक-समान,
बस स्वतन्त्रता और मुक्ति ही
यहाँ वहाँ विभु के दो दान ।
आत्मज, और कहूँ क्या तुमसे
तुम्हे उचित शिक्षा है प्राप्त,
केवल अपनी मनोवेदना—
करदो तुम जन जन मे व्याप्त ।
तुच्छ नीर से नहीं, रक्त से
करता हूँ तुमको अभिषिक्त;
गुरु बन कर तुम मधुर बनादो,—
जनता का जीवन है तिक्त ।

स्वयं जनार्दन-हेतु आपको
        और तुम्हें जनता के हेतु,
अर्पित करके धन्य हुआ मैं,
        धारण करो धर्म का केतु।
कट जावेंगे पुण्यभूमि की
        पराधीनता के सब पाश,
पाञ्चाली की लाज रहेगी
        होगा दुःशासन का नाश।"
"जय गुरुदेव" गिरा फिर गूंजी
        रहा न गौरव का परिमाण;
पाँच शिष्य लेकर ही गुरु ने
        दिल्ली को कर दिया प्रयाण।
साथ न छोड़ सका गुरुवर का—
        सचिव विप्र बुधवर मतिदास,
उसे प्रेम था उन पर पूरा
        और उन्हें उस पर विश्वास।
होते हैं स्वाधीन साधु जन,
        लगी उन्हें पथ में कुछ देर;
पर सह सकता कैसे इसको
        आलमगीरी का अन्धेर।

एक अकिंचन मुसलमान ने
मिल कर उनको किया प्रणाम,
कहा—"आपके लिए हाल मे
एक लाख का हुआ इनाम।"
गुरु हँस बोले—"तो आओ, मै
दिल्ली चलूँ तुम्हारे साथ!"
"मेरी ऐसी ताव कहाँ है!"
जोड़े उसने दोनो हाथ।
"भाई, मै तो जाता ही हूँ
तुम क्यो होते नहीं निहाल?
अहो भाग्य है यदि मुझसे हो
मालामाल एक कंगाल!"
रक्खा गया उन्हे दिल्ली मे
विद्रोही वन्दी-सा रोक,
जो स्वतन्त्रचेता होते हैं,
पाते है शूली तक, शोक!
कैसे गति पावे कारागृह
जो अघ-अर्णव के उपकूल,
जीवनमुक्तों के चरणों की
कभी न पावे यदि वे धूल?

बादशाह कुछ क्रूर हँसी हँस
बोला गुरु से ताना मार–
"बड़े धर्मगुरु हो, दिखलाओ
कोई करामात इस बार।"
गुरु ने उत्तर दिया—"हुई है
करामात की ऐसी चाह
तो गलियों में बहुत मिलेंगे
बाज़ीगर, बुलवालें शाह।
पल में पेड़ लगा देंगे वे,
लग जावेंगे सब फल-फूल;
पर ये सब्ज़ बाग़ होते हैं
सबके सब बेजड़-निर्मूल!
मुझे सत्य का ही आग्रह है
धर्माग्रही शाह भी एं न
रखते होंगे स्वयं बड़ी कुछ
करामात तब कहते हैं न!"
कहा यवन ने असि चमका कर,—
"मेरी करामात यह साफ़!
बँधे पड़े हैं तुम जैसे गुरु,
मारूँ, चाहे कर दूँ माफ़।"

"शाह बड़े भारी भ्रम मे हैं,
बद्ध देह है बन्धन आप;
किन्तु मुक्त है मेरा आत्मा,
वह निर्लेप और निष्पाप।
और यही असि करामात है,
जिस पर बादशाह को गर्व,
तो मुझमे भी चमत्कार यह—
समझूँ उसको तृण-सम खर्व !"
"डरते नहीं कहो क्या तुम कुछ ?
या कि हुए हो नाउम्मेद ?"
गुरु ने उत्तर दिया कि "यह भी
आप नहीं समझे, हा खेद !
नहीं डराते स्वयं किसी को,
डरें किसी से फिर क्यो वीर ?
वे निराश हों जो हो पापी,
पामर, परपीडक, बेपीर।
आशा क्या, विश्वास हमे है,
और यही है उसका मर्म—
छोड़ दिया फल प्रभु पर हमने,
कर्म किया है समझ स्वधर्म।

हम क्यों डरें, डरे वह जिसको
दीख रहा हो दुष्परिणाम;
जिसने कोई पाप किया हो
लेकर किसी पुण्य का नाम।"
बादशाह बोला—"रहने दो
अब फिज़ूल है ज़्यादा तूल;
जीना हो तो मुसलमान हो—
शाही मज़हब करो कुबूल।"
"शाही मज़हब के भी ऊपर
मानव-धर्म, न भूलें शाह;
मिलते नहीं जलधि में जाकर
एक पन्थ से सभी प्रवाह।
सतत मतस्वातन्त्र्य सभी को
देता है स्वराज्य में राम;
मर्यादा रखकर नास्तिक तक
पाते हैं उसमें धन-धाम।
प्रिय होते न एक उस प्रभु को
भिन्न भिन्न इस भव के भाव,
तो किस भाँति अनेक मतों के
हम करने पाते प्रस्ताव?

'जीना हो तो मुसलमान हो,
शाही मज़हब करो .क़ुबूल;'
किन्तु मरेंगे स्वयं एक दिन
शाह कृपा कर जायँ न भूल !
आप मरें, मैं मारा जाऊँ,
हो सकता है यही प्रभेद;
देगी किन्तु मुझे गौरव ही—
मेरी मृत्यु, न देगी खेद।"
कहा कुपित औरंगज़ेब ने
"ठीक न होंगे यों तुम ढीठ;
ठहरो !" गुरु-शिष्यों पर उसने
डाली तब डरावनी डीठ।
"बस जवाब दो एक बात में
तुम सबको है क्या मंजूर ?"
"गुरु की विजय,-विजय निज गुरु की,"
गरज उठे वे पाँचों शूर।
गुंजारित हो उठा वहाँ पर
"जय गुरुदेव !" नाम का नाद;
दाँत पीसकर बादशाह ने
हाँक लगाई—"हाँ जल्लाद !"

गिरे हाल, पाँचों सिर कट कर
हुआ धर्मवलि का मुहँ लाल;
कहा गर्व-गौरव से गुरु ने
पाँचों वार—"अकाल! अकाल!"
"दैव-दान का दुरुपयोग यह!"
बोला अति निर्भय मतिदास,
"किन्तु अमर हैं, मरे नहीं ये
इसका साक्षी हो इतिहास।
अन्यायी को याद रहे यह
यदि उसके कर मे करवाल,
तो उसके ऊपर भी प्रभु का
घूम रहा है चक्र कराल!"
वादशाह गरजा—"ओ काफिर,
सोच समझ कर तू मुहँ खोल,
मुसलमान हो जा, या अब क्या
तुझको भी मरना है बोल?"
"करो मुसलमानी उनकी जो
वेचारे वच्चे अनजान;
चाहो मेरा गला काटलो,
मै सदैव हिन्दू-सन्तान!"

"गला नहीं, सिर पर आरा रख
डालो इसे इसी दम चीर,"
दाँत पीसने लगा क्रोध से
आज्ञा देकर आलमगीर।
चिरता रहा ठूँठ-सा द्विजवर
प्रणव नाद का निश्चल ठाठ!
उसे सुनाते रहे अन्त तक
गद्‌गद गुरु 'जपुजी' का पाठ।
बोला फिर कर बादशाह फिर—
"तेगबहादुर, अब भी आव,
नहीं आप तुम बुतपरस्त हो
पूरे मुसल्मान हो जाव।"
"नहीं मूर्ति-पूजक मै, फिर भी
वे मेरे ही भाईबन्द,
प्रतिमा के मिस जो प्रभु की ही
पूजा करते है स्वच्छन्द।
करते हैं तद्रूप कल्पना
जपते हैं वे जिसका नाम
भूखा है भगवान भाव का
सबमें रमा हुआ है राम।

'आप देव है, आप देहरा
आप लगाता है पूजा,
जल से लहर, लहर से जल है
कहने सुनने को दूजा ।'
हिन्दू प्रतिमा-पूजन को ही
नहीं समझते अन्तिम लक्ष्,
हरिचरित्र चिन्तन करते है
रख कर पहले चित्र समक्ष ।
रखते है दो वन्धु परस्पर,
वहुधा निज विचार बहु भिन्न,
किन्तु रुधिर-सम्बन्ध कभी क्या
होता है उनका विच्छिन्न ?
तिथि-त्योहार, पर्व-उत्सव युत
एक हमारे हैं व्यवहार;
एक हमारे प्यारे पूर्वज,
एक प्रकृति, संस्कृति, संस्कार ।
फिर भी यदि कुछ मुसलमानपन
माने हममे तो फिर वाह !
अव गोमांस खिलाने का ही
हठ क्यो ठान रहे है शाह !

दुग्धपोष्य बच्चों को खा ले,
नाग जाति की है यह ख्याति;
दूध पिलाने वाली माँ तक
नहीं छोड़ती मानव जाति !"
"एक बार, बस एक बार अब,
मौका देता हूँ मैं और,
मुसलमान होकर तुम मेरे
भाई हो, छोड़ो यह तौर !"
"भाई ! अरे दुहाई, रहिए,
कहिए —दारा या कि मुराद ?
भाई से अरि ही अच्छा मैं
आई अब क्यों उनकी याद ?
होता नहीं बादशाहों का
कोई भाईबन्द न बाप !
मैं जो कुछ भी हूँ सो मैं हूँ,
और आप जो हैं सो आप ।"
पैर पटक कर कहा यवन ने—
"ओ काफिर ! ओ नामाकूल,
मर कर छुट्टी पा जाऊँगा
समझ रहा है तू, यह भूल ।"

सचमुच ही उस अन्यायी ने
गुरु को बन्दीगृह में डाल,
उन्हे अनेक कष्ट दिलवाये
मरने से भी कठिन कराल।
जिला जिला कर मारा उसने,
मौत मिटा देती है कष्ट;
मिटती नहीं वेदना तब तक
जब तक न हो चेतना नष्ट।
किन्तु चेतना भावुक गुरु की
हुई सच्चिदानन्द-निमग्न;
जड़ शरीर को जो चाहे सो
करे दग्ध, दारित या भग्न।
कुछ दिन पीछे बादशाह ने
फिर बुलवाया उन्हे समक्ष;
पर मानों दृढ़ हुआ और भी,
पीड़ित होकर उनका पक्ष।
"अरे! व्यर्थ ही बल दिखला कर
भरम गँवाया तू ने वीर!
क्या यह आत्मा मर सकता है?
जी सकता है कभी शरीर?

मेरा जीवन-मन्त्र बँधा है

देख, गले मे तू यह यन्त्र;

तेरी वह तलवार तुच्छ है,

मै हूँ अब भी स्वतः स्वतन्त्र।"

"मै स्वतन्त्र ही कर दूँ तुझको,

हो जा मरने को तैयार;

देखूँ तेरे जन्त्र-मन्त्र सब

हाँ जल्लाद, तुले तलवार।"

ध्यानमग्न गुरु छोड़ चुके थे

मानो पहले ही निज देह,

सिर कट गया और ऊपर को

बरसा उष्ण रुधिर का मेह।

पढ़ा गया वह यन्त्र खोल कर,

सुनता था सारा दरबार,

बस इतना ही लिखा हुआ था—

"सिर दे डाला, दिया न सार!"

माँगा गुरु-शव कुछ लोगों ने

किया यवन ने अस्वीकार;

रखवा दिया उसे पहरे मे

जिसमे हो न सके संस्कार।

अन्त्यज कुल का वृद्ध एक जन,
जो गुरु से था हुआ कृतार्थ,
पुत्र सहित दिल्ली पहुँचा था
इच्छापूर्वक इसी हितार्थ ।
अर्द्ध रात्रि, ऊँचे अट्टों की
ओट होगया चन्द्र समक्ष,
पर चकोर-सम पिता-पुत्र का
अब भी सम्मुख था निज लक्ष ।
सुन पड़ती थी कहीं कहीं से
गीतध्वनि, मृदंग की थाप,
झूम झरोखों पर लटपट-सा
वायु छटपटाता था आप !
प्रहरी नीचे झींम स्वप्न मे
देख रहे थे ऊँचे दृश्य;
किन्तु पुनीत पिता-पुत्रों को
वे सब बाते थीं अस्पृश्य ।
ऊपर चढ़े चोर-सम दोनो
करने को शुभकार्य नितान्त,
उतरे, जहाँ अस्त अरुणोपम
पड़े हुए थे गुरु चिर शान्त ।

"जय गुरुदेव, धन्य तुमने ही
धर्म बचाया अपनी ओट;
अब घर चलो, उठो हे स्वामी !
उबरूँ मैं इस रज में लोट।"
कहा पुत्र से उसने—"जिसमें
जग प्रहरी न करे सन्देह,
गुरु को लेजा और छोड़ जा
यहीं काट कर मेरी देह।"
कहा पुत्र ने—"मुझे छोड़ कर
गुरु को लेजाओ तुम आप;
बेटा फिर भी हो सकता है,
बने रहो हे मेरे बाप !"
"पागल ! मैं मरने को ही हूँ
पर तू है कुछ करने योग्य,
इससे यह मेरा विचार ही
है तेरे आचरने योग्य।
तू भी मुझ-सा मरना पावे
अपना ऐसा बेटा छोड़;
जाग न जायँ जवन, जल्दी कर,
तुच्छ मोह तिनके-सा तोड़।"

बाप हँस रहा था, बेटे को
मानो मार गया था काठ,
स्वयं वृद्ध ने निज सिर काटा
कर जी मे 'जपुजी' का पाठ।
बेटा चौंक पड़ा, झट उसने
वहीं बाप को किया प्रणाम;
फिर गुरु-सिर लेकर बच आया
रथ मे रख लाया गुरुधाम।
था आनन्द पुरप्राङ्गण मे
हाहाकार कि जयजयकार !
रोते रोते गाते थे सब—
"सिर दे डाला, दिया न सार !"
काँप उठा आकाश अचानक
प्रान्त प्रान्त कर उठा पुकार—
सुना सभी ने, कहा सभी ने—
"सिर दे डाला, दिया न सार ! !"
उबल उठे उत्तप्त पञ्चनद,
रहा क्षोभ का वार न पार,
हर हर करके हहराये वे—
"सिर दे डाला, दिया न सार !!!"

गुरु गोविन्दसिंह

संस्कार

क्या चिन्ता यदि अस्त होगया
तेगवहादुर रूपी चन्द्र ?
देखो, गुरु गोविन्द-दिवाकर
उदित हुआ है वह निस्तन्द्र !
किन्तु न देख सका तत्क्षण ही
उधर घूम कर आलमगीर,
महाराष्ट्र वीरों ने उसको
कर डाला अत्यन्त अधीर ।
सिक्ख-संघ के भाग्य-विधाता—
निर्माता थे गुरुगोविन्द
जो देगये वंश तक की बलि,
वे दाता थे गुरुगोविंद ।
करके पितृसंस्कार उन्होंने
कहा—"शान्ति पाओ तुम तात !
भूलेगा गोविन्द जात क्या
कभी तुम्हारा यह अपघात ।

वैरव्रत पर ही अर्पित है
मेरा तन, मन, धन, सर्वस्व,
आर्य जाति की जागृति मे ही
है मेरा जीवन-सर्वस्व।
है बलिदान बपौती मेरी,
कहता हूँ मै आज सगर्व !
पिता, तुम्हारे पद-चिन्हों पर
प्रस्तुत है असि-धारा-पर्व !
जो पथ दिखलाया है तुमने
उससे नहीं हटेंगे पैर;
देते जावेगे हम निज बलि,
जब तक ले न सकेंगे वैर।
धन-जन, हय-गज, शस्त्र-सैन्य की
नहीं मुझे उतनी परवाह,
तुम निश्चिन्त रहो, मुझमे है
दृढ़-निश्चय, साहस, उत्साह।
भागे सर्व भण्ड भय पाकर
हिन्दू धर्म बढ़े ध्रुवमेव;
गावे सिक्ख वीर विजयी हो
"जय गुरु देव, जयति गुरुदेव"

गरजे सभी, चिता को झुक कर,
"जय गुरुदेव, जयति गुरुदेव !"
"हाँ ! हाँ !"—कहा अग्नि ने रुक कर—
"जय गुरुदेव, जयति गुरुदेव।"
निर्वापित होगई भले ही
धरती पर वह चिता विशाल,
किन्तु धर्म की वलि-वेदी मे
छोड़ रही है अब भी ज्वाल।

संघटन

जो कहते हैं सो करते हैं,
नहीं भूलते है प्रणवीर;
धारण करते है भूषण-सम
रण मे वढ़ वढ़ कर व्रणवीर।
और सुखो की वात छोड़िए,
भूख और भोजन भी भूल,
गुरुवर करने लगे संघटन—
उद्धत यवनों के प्रतिकूल।

किया उन्होंने तप कुछ दिन तक
अलग हिमालय मे एकान्त,
प्रथम आपको आप बनाया
श्रम-सहिष्णु, सक्षम, दृढ़, दान्त ।
तब कवि-कोविद-संग उन्होंने
पढ़े-गुने श्रुति, शास्त्र, पुराण,
और साथ ही विरोधियों के
देखे-सुने हदीस-कुरान ।
नव नव नाट्य दिखाते है निज
जिसमे दोनो—ह्रास-विकास,
राष्ट्रों का जीवनचरित्र-सा
मनन किया गुरु ने इतिहास ।
पुण्य पुराण-पाठ कर उनका
फूल उठा आशा से वक्ष,
मिले उन्हे रामायण-भारत
नव बल-कौशल-से प्रत्यक्ष ।
"लेकर वन्य वानरो को भी
लिया गया रावण से वैर,
रक्खें सिक्ख संघटित होकर
म्लेच्छो के मस्तक पर पैर ।

यवन हमारे भाई भी हों,
पर अन्यायी कौरवतुल्य;
जहाँ धर्म, जय वहीं अन्त मे
क्या है उनका बलबाहुल्य !"
सीधे-सादे, सरल, सौम्य थे
हुए यहाँ तक विनयविनीत—
जिससे आज हुए थे हिन्दू
बात बात मे भावुक-भीत।
शान्तिप्रिय सन्तोषी थे वे
सदय-हृदय, विग्रह से दूर,
उनके उन अतिरिक्त गुणों से
लाभ उठाते थे अरि क्रूर।
खो बैठे थे क्षुद्र जाति पर
वे निज जातीयत्व यथार्थ,
मृषा स्वार्थ लेकर ज्यों लोलुप
खो देते है निज परमार्थ।
विधि-वादी, श्रम-विमुख, निरुद्यम,
हुए आलसी थे वे मन्द,
क्षणभंगुर-सा सोच भुवन को
समझे थे माया का फन्द।

भूल गये थे वे कि भले ही
क्षण में हो जावे भव-भङ्ग,
किन्तु हमारी कुल-परम्परा
अक्षय है अपनों के सङ्ग ।
अब भी धर्म शेष था उनमें
पर वे थे आचारभ्रष्ट,
उपचारों के पहले गुरु ने
बारंबार विचारा कष्ट ।
"चिड़ियों से मैं बाज गिराऊँ
तभी कहाऊँ मैं गोविन्द,
अपना क्षोभ शत्रु-शोणित में—
क्यों न बहाऊँ मैं गोविन्द ।
लाख लाख म्लेच्छों से मेरा
एक एक भट करे न युद्ध,
तो फिर वैरि-विरुद्ध वृथा ही
किया उन्हें मैंने उद्‌बुद्ध ।"
सिक्खों में श्रद्धा थी, पर वे
थे विशेष कर विद्या-हीन,
द्विज जो संस्कृत-शिक्षा देते
वे थे स्वयं स्वार्थ में लीन ।

गुरु ने कहा—"ब्राह्मणेतर भी—
पाते हैं जब पवन-प्रकाश,
तब उनके संस्कृत पढ़ने से
होगा जड़ता का ही नाश।
जिन्हें शूद्र कहते हैं वे ही
हैं समाज के सच्चे अङ्ग,
प्रथम पैर ही पुजते हैं जो
ले चलते हैं सब कुछ सङ्ग।
पाप-पुण्य निज कर्म्मों पर हैं
शूद्र-विप्र का एक शरीर,
नाली में अस्पृश्य, नदी में
पावन होता है घन-नीर।
आर्य जाति की थाती रख कर
किया ब्राह्मणों ने वह कार्य,
किन्तु पचाकर उसे स्वयं ही
न हों आज वे अधम अनार्य।
आप न उठ, अब औरों को ही
गिरा गिरा कर द्विज, तुम उच्च;
मुझको तो चन्दन अभीष्ट है;
बना रहे तालद्रुम उच्च!

हिन्दू-विद्यापीठ सदा से
रहा धन्य वह काशीधाम,
गये वहाँ कुछ शिष्य और वे
बन आये पण्डित प्रियकाम।
भाषान्तरित कराये गुरु ने
पुण्य पूर्वजों के आख्यान,
हुआ सर्व साधारण को यों
अतुल आत्मगौरव का ज्ञान।
अपनी भाषा में अपनों के
गाने लगे लोग अब गीत,
जागा स्वाभिमान यों उनमें
और हुए वे प्रकृत पुनीत।
बड़ी देवभाषा से भी है
जनता की भाषा जनतार्थ,
उसमें दोनों ही सधते हैं
उसके स्वार्थ और परमार्थ।
हुई वीर गाथाओं पर बहु
शूर सिखों के मन में प्रीति,
वीर मराठों में थी जैसे
कथा और कीर्तन की रीति।

गुरु का सच्चा गौरव यह है
वह गढ़ सके स्वयं नव मन्त्र,
वे कवि थे, रचते थे बहुधा
बलदायक बहु वृत्त स्वतन्त्र।
हँसकर बोले एक बार वे
पाकर दो मणि कंकण भेंट,
"कंकण नहीं, मुझे तो कर दो,
जो वैरी को धरे समेट।"
कहते कहते सघन गगन-सम
सहसा वे हो गये गभीर;
नद के बहते हुए नीर-सम
टहल रहे थे उसके तीर।
कंकण एक उतार उन्होंने
दिया द्रव्य-से जल मे डाल,
जो ज्वलन्त अंगार-सरीखा
बुझता-सा डूबा तत्काल।
तब भी जल पर एक चिन्ह वह
छोड़ गया कुण्डल-सा गोल,
घट कर नहीं किन्तु बढ़ कर जो
हुआ दृष्टि की ओट अतोल।

एक सिक्ख ने देख रिक्त कर
कहा—"गिरा कंकण किस ठौर ?"
फेंक दूसरा भी पानी में
बोले वे उससे—"इस ठौर !
"अलङ्कार तो आज भार हैं,
दो अच्छे-से आयुध भेंट;
कंकण नहीं, मुझे तो कर दो,
जो वैरी को धरें समेट।"
धन ही नहीं जनों ने उन पर
दिया आप अपने को वार,
और उन्होंने उनको लेकर
गढ़ा अपेक्षा के अनुसार।
लोगों को परलोक-योग्य वे
करने लगे मृत्यु-भय मेंट,
जीवन तो जाने ही को है
दे दो उसे धर्म्म की भेंट।
विविधायुध आभा में ही अब
बहुधा वे करते थे वास,
पड़ता है निर्मल जल में ज्यों
चढ़ते रवि का विम्ब-विकास।

जाकर मीलों दूर निमिष मे
लक्ष्य वेध कर उनके बाण,
बल-गौरव के कर-लाघव के
सूक्ष्म-दृष्टि के बने प्रमाण।
लेते शस्त्र, भेंट वे देते,
शस्त्र बाँधने का उपदेश,
बस उनका उद्देश यही था—
योद्धा बन जावे निज देश।
हेषाध्वनि करते थे उनके
रंग रंग के तरल तुरङ्ग,
कूद धरे उड़ता विहङ्ग जो,
क्या सूकर, क्या सरल कुरङ्ग?
जिनसे ओट मिले अपनों को,
शत्रु जनों को दूनी चोट,
ऊँचे उपगिरि तुल्य उन्होंने
बनवाये बहु दृढ़ गढ़-कोट।
एक बार गुरु ने निज भोजन
दिया कहीं कुत्तों को डाल;
वे लड़ पड़े, दिखाया गुरु ने—
कौवे मार ले गये माल।

"आपस मे लड़ने वालों का
यही हाल समझो सब ठौर;
दो झगडें गे और तीसरा
ले जावेगा मुँह का कौर !"
सात्विक, सारस्वत, सन्तोषी
कुछ ब्राह्मण थे उनको इष्ट,
किया उन्होंने एक निमन्त्रण
बनवाये बहु भोजन मिष्ट ।
किन्तु कहा—"जो मांस खायगा
वही पायगा दान समुक्ति;"
अस्वीकार हुआ यह जिनको
हुए वही स्वीकार सयुक्ति !
छुड़वा दिया एक खर गुरु ने
उढ़वा कर बाघंबर साज,
उसे देख भागे जो पहले
आई उनको पीछे लाज ।
गुरु बोले—"मैंने तो तुमको
दिया सिंह का बाना-वेष,
अब तुम जानो, यदि पीछे से
निकलो कभी शृगाल विशेष ।"

यज्ञ

शक्ति-समाराधन करने को
किया उन्होंने यज्ञारम्भ,
जिसमें देवी के प्रसाद से
दलें दस्युओं का वे दम्भ।
ऐसा न था कि अपने ऊपर
न हो उन्हें पूरा विश्वास,
किन्तु उचित है यह मनुजों को
करें देवताओं की आस।
उठता था स्वाहा स्वाहा का
नाद और आहा आमोद,
भरता था पर्जन्य-पुत्र से
पावन धूम गगन की गोद।
एक वर्ष तक चला यही क्रम
अन्तिम दिन बोला आचार्य—
"किसी विशिष्ट व्यक्ति की बलि से
आज पूर्ण हो मख का कार्य।"

बोले उस तान्त्रिक से गुरुवर—
"सुत-बलि लेगी अम्बा शक्ति ?
तो फिर महाराज, खोजूँ मैं
कहाँ आपसे बढ़कर व्यक्ति ?"
खिसक गया वह जन यह सुनकर,
गुरु के नेत्र होगये लाल;
लेकर सब साकल्य उन्होंने
दी तुरन्त अन्ताहुति डाल।
उठी अठगुनी ज्वाला तत्क्षण,
फैला उजियाला अत्यन्त;
खड्ग खींच कर खड़े होगये
देवी के सम्मुख वे सन्त।
"माँ, बलिदान चाहती हो तो
आने दो तुम उसका योग,
क्षुद्र एक जन से क्या होगा
दूँगा मैं सौ सौ बलि—भोग।"
धँसी सिमिट मख-शिखा बिम्ब-मिष
जगमग करती थी असि इष्टः
मानों ज्वालामुखी भवानी
आकर उसमें हुई प्रविष्ट !

देवी को प्रणाम करके गुरु
बोले स्वजनों से—"हे तात !
है अपने अनुकूल अम्बिका,
किन्तु याद रखना वह बात—
जो है आप सहायक अपना
है उसके ही देव सहाय,
रहे आत्मविश्वास हृदय में
और न छूटे अध्यवसाय।
देवी से वर लिया किसी ने
लेकर उनका ही अवलम्ब—
"सङ्कट में जब तुझे पुकारूँ
मुझे उबार लीजियो अम्ब !"
काँप उठा फँस एक बार वह
रण में मृत्यु-नृत्य-सा हेर;
घिग्घी बँधी, तदपि ज्यों त्यों कर
उसने वहाँ लगाई टेर।
कहा प्रकट होकर काली ने—
"खड्ग उठा, तेरी है जीत।"
"उठा सकूँगा न मैं खड्ग तो"
बोला उनसे वह भयभीत।

"तो फिर भाग, न कोई तुझको
पकड़ सकेगा, जा उस ष
"हाय ! भाग भी नहीं सकूँगा.
जकड़ गये हैं पैर कठोर
"न तो खड्ग लेगा न भगेगा"—
कहा भवानी ने—"धिक् पापि !
ऐसे कायर की सहायता
मै भी करती नहीं कदापि ।"

परीक्षा

दान-दक्षिणा-पूर्वक गुरु ने
दिया ब्राह्मणो को तब भोज;
होकर तृप्त असीसा सबने—
बढ़े प्रताप तेज-बल-ओज !
सभा बुलाई गई अन्त मे
दूर दूर से आये सिक्ख,
समयोचित उपहार भेंट बहु
श्रद्धा पूर्वक लाये सिक्ख ।

लिये वही असि निकले गुरुवर,
कर भीतर कुछ नया प्रबन्ध,
करि-सम कर नीचे हो थे पर
कुम्भ-सदृश थे उच्चस्कन्ध।
खड़े हुए ऊँचे चत्वर पर,
नीचे थी सिक्खों की भीड़,
सम्प्रति सबकी हृत्तन्त्री में
थी उत्सुक भावों की मीड़।
तब गुरु ने गम्भीर-नाद से
कहा—"भाइयो, सुनो सहर्ष,
पूर्ण हुआ वह यज्ञ हमारा
यह आरम्भ हुआ नव वर्ष।
लेकर नई नई आशाएँ
लेकर नये नये उत्साह,
बहता है मेरी नस नस में
नये रुधिर का नया प्रवाह।
देखो, 'दुर्गादत्त' खड्ग यह,
उचित यही अब इसका नाम,
दीख पड़ा मुझको अम्बा का
इसमें अतुल बिम्ब अभिराम।

इस अपूर्व अवसर पर हमसे
मांग रहो है वे वलिदान,
जीवन सफल करे सो सत्वर
वढे, चढे चत्वर-सोपान।"
सन्नाटा था ! बढ़ा एक जन—
न था वदन पर भय का लेश,
बोला—"स्वीकृत हो यह किंकर;
देवकार्य, गुरु का आदेश !"
'भाई दयाराम लाहौरी,'
चारों ओर होगई धूम,
उसे नया ग्रह-सा लोगो ने
देखा सभय सविस्मय घूम !
धन्य धन्य की ध्वनि मे उसको
गुरु भीतर ले गये सहर्ष,
जब लौटे, शोणित-सिंचित थे,
रंजित खडग लिए दुर्द्धर्ष ।
मोरी से आकर चत्वर पर
सम्मुख फैल रहा था रक्त,
किस रणचण्डी के सुहाग का
उफन रहा था आज अलक्त !

सिहर उठा वह संघ देख यह,
फिर भी थे सारे जन मौन;
सिंह-सदृश गुरु गरज उठे फिर—
"अब की वार चलेगा कौन ?"
फिर सन्नाटा ! बढ़ा धीर-गति
धर्मसिंह दिल्ली का जाट,
बोला प्रणतियुक्त—"प्रस्तुत हूँ,
दीजे यह मेरा सिर काट।"
फिर भी वही विपत्ति ! बहुत जन
खिसक उठे दिखला कर पीठ;
'हिम्मत' धीवर ने हिम्मत की
बोला—"उद्यत है यह ढीठ !"
चौथा 'मुहकम' छीपा था वह
जिसने दिखलाया यह क्षात्र,
और पाँचवाँ 'साहब' नाई
हुआ सिंह पदवी का पात्र।
धन्य धन्य वे शिष्य और गुरु,
आती नहीं साँच को आँच;
तीन वार सबकी होती है
पाँच वार थी इनकी जाँच।

उठी यवनिका, देखा सबने
जीवित थे वे पाँचों वीर—
गुरु के ऐसे कपड़े पहने
पुलकित अङ्ग, अभङ्ग शरीर।
रुण्ड समेत समीप पड़े थे
पाँच अजा-पुत्रों के मुण्ड,
निरख नाट्य-पट-परिवर्तन-सा
चकित हुए लोगों के झुण्ड।
लज्जित हुए सभी—'क्यों हमने
दिया न अपने को गुरु-हेतु?
रख छोड़ा मानों झूठी ही
जय जय जपने को गुरु-हेतु।'

दीक्षा

"धन्य आज का दिन" गुरु बोले—
"सीखे हैं सिख मरना ठीक,
जी सकता है वही जगत मे
मर सकता है जो निर्भीक।

हुए 'पाँच प्यारे' ये मेरे,
सब सोढ़ी क्षत्रिय हैं धन्य;
इनमें जिसे शूद्र जो समझे
वही शूद्र, जड़-जीव, जघन्य।
यही पाँच पाण्डव हैं मेरे,
मैं गोविन्द।' हँसे गुरुराज,
"कौरव-कालयवन सौ भी हों
तो भी नहीं मुझे भय आज।"
किन्तु मुझे आशा है, निश्चय
नहीं यहीं यह शौर्य समाप्त,
पाँच नहीं, सिक्खों में ऐसे
पाँच लाख भी होंगे प्राप्त।"
चरणों में गिर कर गुरुवर के
चिल्ला उठे सहस्रों शिष्य—
"आज्ञा हो, मर मिटें कहाँ पर
इसी समय हम भूल भविष्य।"
"वीरो, मुझे यही आशा थी,
आओ, करो अमृत अब पान;
हम सब हैं बलिदान-हेतु ही,
जिये जयी भावी सन्तान।"

गुरु ने पाँचों को दीक्षा दी,
लो भी उनमें गुरुपन होम;
पञ्चामृत घोला कटार से
चखा-चखाया वह नव सोम।
"एक जाति हो सब सिक्खों की,
जब सबका वीरव्रत एक;
एक विशेष चिन्ह हो सबके,
और एक ही विनय-विवेक।
मैं भी सबके ही समान हूँ,
सबका गुरु है आदिग्रन्थ;
एक अकाल उपास्य हमारा,
खालिस यही खालसा पन्थ।"

पंच ककार

पाँच ककारों के धारण का
गुरु ने सबको दिया निदेश—
"कच्छ, कृपाण, कड़ा, कच, कंघा
कहीं न छूटें देश-विदेश।

आराधन-साधन या जप-तप
सबका मूल समझिए कच्छ;
संयम ही विजयो जीवन है,
तन हो सबल और मन स्वच्छ।
दुष्ट-दलन, दुर्बल की रक्षा,
कर सकता है एक कृपाण;
धर्म-धनादि, अनार्य-दस्यु-भय
हर सकता है एक कृपाण।
कड़ा—सूत का नहीं, सार का,
यही हमारा हो उपवीत;
पड़ा रहे कर मे जय-कङ्कण—
शूर सिखो का चिन्ह पुनीत।
केश हमारे वेश-रूप हो
कंघी के संगी चिरकाल,
रत हम आज वीरता व्रत मे,
कैसे वन सकते हैं वाल!
हिन्दू-जाति-धर्म के प्रहरी
हम स्वदेश के सुभट समस्त,
ाचारो के आडम्बर मे
बँधे न अधिक हमारे हस्त।

कर मे प्रखर कृपाण हमारे,
रहे हृदय मे हरि-विश्वास;
लोक और परलोक कहीं भी
नहीं हमे फिर कोई त्रास।
रण मे मरण भाग्य, निज समझो,
किन्तु कलह मे किसका क्षेम?
यादव-गण की याद न भूलो,
रहो पाण्डवों-से सप्रेम।
आज सिक्ख भी 'सिंह' हुए तुम,
सबके नामो मे हो सिंह;
और नाम-सम सभी एक-से
तुम सब कामो मे हो सिंह।"

उद्बोधन

यों सिक्खों को सिंह बनाकर
लिया स्वस्थ-सम गुरु ने श्वास,
वे बलिदान दे सकेंगे अब—
हुआ उन्हे मन मे विश्वास।

फिर भी जिस स्वदेश के ऊपर
करने जाते थे वे युद्ध,
हाय ! यवन पर-वश हो उलटा
अड़ा-खड़ा था वही विरुद्ध !
अपने चारो ओर उन्होने
देखा, मिले कहीं कुछ तत्व,
तो कुछ क्षुद्र पहाड़ी राजे
दीख पड़े निर्बल-निस्सत्व।
किया उन्हे उद्बोधित गुरु ने
कि वे बना कर निज समुदाय,
धर्मशत्रु-संहार-कार्य मे
बनें आप अनिवार्य सहाय।
"कब तक क्रीत दास यवनो के
बने रहोगे तुम हे वीर !
कब तक पद-मर्दित रक्खेंगे
तुम्हे धर्म-वैरी बेपीर ?
याद करो निज रूप तुम्हीं हो
सूर्य-चन्द्र-कुलजात नृपाल !
यदि अपने को भूल जाय तो
बने सिंह भी श्वान-शृगाल।

धार्मिक, सामाजिक या नैतिक
कौन निरादर है वह घोर—
सहना पड़ता नहीं वन्धु, जो
तुम्हें निरन्तर चारों ओर ?
हिन्दू रहने का भी हमको
'कर' देना होता है हाय !
और हमारे ही बल से वे
करते हैं हम पर अन्याय ।
दे दे कर सहयोग हमी हैं
चला रहे यह शासन-यन्त्र,
जो हम मुक्तिलक्ष्य वालों को
रखता है पशु-सम परतन्त्र !
अपने हो जयसिंह धराधिप
कहला कर मिर्ज़ा जयशाह,
अपने ही शिवराजों को है
दिखा रहे दिल्ली की राह !
होते रहे सफल अरि,—हममें
पाकर अति अनैक्य या फूट,
धर्म, धरा, धन—तीनों ही की—
मची इसी कारण यह लूट ।

एक वेद है, एक शास्त्र है
और एक है निज कुल-गोत्र,
तदपि हाय ! हम एक नहीं हैं,
गाते है अपने ही स्तोत्र ।
हम जयचन्द चाहते है क्या
पृथ्वीराज न हो सम्राट;
आवे क्यो न मुहम्मद गोरी
लेंगे उसे चरण तक चाट !
अपने को तो उच्च बता कर
कह अपनो को नीच निकृष्ट,
विजातियो के, विधर्मियों के,
चरण चूमते है हम धृष्ट !
इतिहासो के पृष्ठो मे यो
न हो और अब तुम उपहास्य,
उचित नहीं यह आर्य जनो को
करें दस्यु गण का जो दास्य ।
राम-कृष्ण के, भीष्मार्जुन के,
चन्द्रगुप्त-विक्रम के वंश,
धारण करो हाय ! कुछ तो तुम
उनके गुण-गौरव के अंश ।

यवनों, शकों और हूणों से
बदला लेने वाले आज,
म्लेच्छों से निज जाति-धर्म तक
बचा नहीं सकते, हा लाज !
तुम साके करने वाले हो,
फिर भी संवत चलें नवीन,
आओ मिल कर घोषित करदें
'कि हम आज से हैं स्वाधीन !'
अपमानित होकर जीने से
अच्छा है मर जाना, मार,
मर कर वीर अमर हैं, जीकर
भीरु मरे हैं बारंबार !
सजातीय सम्राटों के भी
पकड़ यज्ञ-हय निस्सङ्कोच,
लड़ पड़ते थे स्वाभिमान-वश
तुम्हीं शक्ति सामर्थ्य न सोच।
देखो वे चित्तौर-चिताएँ—
बुझी नहीं अब भी वह आग,
राजसिंह में उस प्रताप की
ज्योति उठी फिर भी वह जाग।

हुए क्षत्रपति दाक्षिणात्य वे
महाराष्ट्र में परिणत हाल,
क्या मर भी न सकेंगे हा! यदि—
जी न सकेंगे हम पाञ्चाल।
जाति-धर्म्म को और देश की
लज्जा रखने के ही हेतु,
यवनों के विरुद्ध गुरुकुल ने
फहराया है निज रण-केतु।
इसीलिए बलिदान दिया है
पूज्य पिता ने अपने आप,
मैं भी प्रस्तुत हूँ, जैसे भी
कटे हमारा सबका पाप।
वह दिल्ली का बादशाह है,
मैं आनन्दपुरी यह सन्त,
फिर भी एक दृश्य दीखेगा,
सीखेगा कुछ पाठ दुरन्त।
एक देश का, एक जाति का,
एक राम का लेकर नाम,
आओ, जागें एक साथ हम,
भागें दस्यु, बचें धन-धाम।"

छा जाता है जिनके ऊपर
एक बार जिसका आतङ्क,
उठते है क्या तद्विरुद्ध वे
न्यायपक्ष पर भी निःशङ्क !"
समझा राजाओं ने उलटा—
गुरु को लेना है प्रतिशोध;
औरों की उदारता मे भी—
स्वार्थ देखते है दुर्बोध ।

संघर्ष

गुरु ने कहा कि "क्या चिन्ता है,
रक्खूँगा मैं तो निज मान,
आज न होगे तो कल होंगे—
सफल हमारे सब बलिदान ।
डरते है ये दुर्बल राजा—
मरे मिटे हम सब क्यों व्यर्थ ?
अच्छी बात, बनाऊँगा मै
मार मार कर इन्हे समर्थ !"

छोड़ दिया सिक्खो को गुरु ने—
"भङ्ग करो इनकी जड़ शान्ति;
जागे क्रोध-मूर्त्ति रख कर ही
इनमे स्वाभिमान की कान्ति।"
अरि-विरुद्ध राजा न मिले थे,
गुरु-विरुद्ध मिल गये समस्त;
भाल पीटते है अपना ही
क्लीव— कर्महीनो के हस्त!
सात सात राजा चढ़ आये
दस सहस्र सेना के सङ्ग,
दो सहस्र सैनिक लेकर ही
दिखलाया गुरु ने रण-रङ्ग।
बहुसंख्यक भी विपक्षियो का
सारा गर्व होगया चूर्ण,
लड़े एक सौ से, सिक्खों मे
था ऐसा साहस परिपूर्ण।
हरीचन्द राजा रखता था
अपने धनुर्बाण का दर्प,
किन्तु उसे डँस गया अन्त मे
गुरु-हर का खर तर शर-सर्प!

विवश सन्धि की सब राजो ने
और हुए वे गुरु के साथ,
बादशाह को कर देने से
खींच लिया उन सबने हाथ ।

सय्यद बुद्धूशाह

सय्यद बुद्धूशाह नाम के
एक यवन थे गुरु के मित्र,
अन्ध न करके जिन्हे धर्म ने
दी थी दृष्टि उदार पवित्र ।
उनका ही उपरोध मान कर
गुरु ने उसे नीतिमय जान,
सैनिक बना लिये थे अपने
शाही बागी बहुत पठान ।
किन्तु पहाड़ी राजाओ से
जिस दिन होना था संग्राम ,
उसी रात को धोखा देकर
भाग गये वे नमकहराम ।

पाकर यह संवाद शीघ्र ही,
लज्जा और व्यथा से त्रस्त,
आये स्वयं समर मे सय्यद,
लाये वे निज सैन्य समस्त।
सच तो यह है रहा इसीसे
उस प्रसङ्ग मे गुरु का पक्ष,
किन्तु शोक ! सय्यद का बेटा
बना वैरि-वाणो का लक्ष !
गुरु ने उन हतपुत्ररत्न को
लिया तप्त निज उर पर खींच,
दो बूँदो से उसे उसी क्षण
दिया शूर सय्यद ने सींच !
"मित्र तुम्हारा नहीं, शत्रु ने
मेरा रत्न हरा है आज,
मेरे पुत्र तुम्हारे भी हो
उनका बन्धु मरा है आज।
और क्या कहूँ, मुझे हृदय मे
है केवल इतना सन्तोष—
उसके घातक रिपु के वध से
सफल हुआ मेरा रण-रोष।"

"और तसल्ली है मुझको भी
चुका पठानों वाला कर्ज़;
जो कुछ हुआ ख़ुदा की मरज़ी,
अदा किया ख़ुद मैंने फर्ज़।
वह मर्दों की मौत मरा है,
आप न करिए उसका रंज;
हम सब सौदा कर जावेंगे
फिर भी भरा रहेगा गंज।"
गुरु ने कहा—"आज हम दोनों
भाई हुए यहाँ एकत्र,
लो, तुम मेरी आधी पगड़ी
और प्रमाण रूप यह पत्र।"
बोले सय्यद लेकर सादर
गुरु का वह आदर अनमोल—
"ख़ुदा करे कि मिले यों ही सब
हिन्दू-मुसलमान जी खोल।
राम-रहीम एक हैं, खाली
जुदे जुदे है उसके नाम।"
हो दो जानु, देख ऊपर को
किया उन्होंने प्रणत प्रणाम।

गुरु बोले—"मै यत्न इसी का
करता हूँ प्राणो पर खेल;
जब तक हिन्दू सबल न होगे,
कभी न होगा सच्चा मेल ।
हमको है अधिकार करें हम
पुनः प्राप्त गत-गौरव-मान,
और बने फिर भी वैसे ही
थे जैसे हम प्रथम महान ।
मुसलमान भावी-विचार कर
बने तनिक पर-धर्म सहिष्णु,
बने रहेगे सदा न यो ही
हिन्दू विजित और वे जिष्णु ।"

युद्ध पर युद्ध

विजय हुई पर सजातियो से
लड़ना पड़ा प्रथम ही बार,
यह विचार कर गुरु के मन मे
हुआ खेद का ही सञ्चार ।

फिर भी शुभ परिणाम देख कर
हुआ इधर उनको सन्तोष,
उधर, देख विद्रोह नृपों का,
भड़क उठा यवनों का रोष।
तीन नायकों के अधीन चढ़
आई यवनों की बहु सैन्य,
और पहाड़ी भूप वहाँ भी
दीख पड़े दिखलाते दैन्य।
उन्हें बचाने का भी मानो
पड़ा स्वयं गुरु पर ही भार,
किन्तु किसी मिस भी रिपुओं का
करना था उनको संहार।
धीरज ही न दिया गुरुवर ने
दी उनको अपनी कुछ फौज;
प्रकृत शत्रु-सम्मुख सिक्खों को
मिली आज मनमानी मौज।
पड़े बुभुक्षित पञ्चानन-सम
यवनों पर गुरु-सैनिक टूट,
देख काल-सा इनको उनके
गये अचानक छक्के छूट!

भागे वे, पर नव बल पाकर
लौटे, जैसे पलटे रोग,
किन्तु भागना पड़ा उन्हे फिर
था गुरु का वह सफल प्रयोग।
प्रसव-पीड़िता समर-भूमि अब
यमज जयाजय की थी सौर
आये गुरु आनन्द दुर्ग मे
वैरी लौट गये लाहौर।
शाही सूबेदार दिलावर
झुँझलाया सुन कर सब हाल,
भेजी गुरु के ऊपर उसने
सुत रुस्तम युत चमू विशाल।
एक पहाड़ी नाले पर फिर
हुआ सिक्ख-यवनो का युद्ध,
जल के साथ बहा शोणित भी
पर क्या वह संगम था शुद्ध?
नहीं ठहरता समय-किसी की
हार-जीत होने के हेतु,
थका और मांदा दिन मानो
चला गया सोने के हेतु।

युद्ध रुका जब रात होगई,
तब भी तम मे बारंबार,
सुन पड़ती थी झिल्लीरव-मिष
रण-शस्त्रो ही की झंकार !
यत्र तत्र बहु वह्नि-राशियाँ
जला रहे थे दोनो पक्ष,
मरघट मे मृत-वीरो की-सी
हुई चिताएँ वे प्रत्यक्ष !
बीच बीच मे अशिव शिवाएँ
कर उठती थीं हाहाकार,
और चौंक उठते थे सैनिक
मानो कुछ दुःस्वप्न निहार !
आँखे फाड़ फाड़ कर प्रहरी
देख रहे थे यथा उलूक !
बना रही थी प्रखर पवन को
उठ उनके हृदयो की हूक !
सहसा झंझा के झर्झर मे,
आकर अम्बर को झट झंप,
गरज उठे घन, अरि-अभाग्य बन—
करके धरती का हृत्कम्प ।

घहरे घन मानो यवनों पर
घुर घुर कर आपड़े वराह,
पानी पड़ने लगा झड़ाझड़,
और हताहत उठे कराह ।
बिजली चमक रही थी ऊपर
मानो कालफणी की डाढ़,
सहसा बहा लेगई आकर
यवनो को पानी की बाढ़ ।
सिक्ख सुरक्षित थे पहले ही
उच्चस्थल मे डेरे डाल,
आकर मानो उनके कर मे
जय देगया स्वयं ही काल ।
कहते है 'हिमायती नाला,'
तब से उस नाले को सिक्ख,
निज कृतज्ञता जना रहे है
जय देने वाले को सिक्ख ।
बार बार पराजित होकर
यवन हुए अत्यन्त निराश,
क्षुब्ध हुआ औरंगज़ेब भी
सुन कर निज गौरव का नाश ।

भेजा स्वयं शाहजादे को
उसने उसी समय पंजाब,
चढ़े मुअज्जम के दल-बादल
नभ को छोड़ धरा को दाब !
ऐसी सेना के योद्धा भी
कर न सके गुरु की कुछ हानि,
मारे गये रात्रि-रण में बहु
शेष हार भागे सग्लानि।
चिन्तित हुआ मुअज्जम सब सुन
चढ़ने चला स्वयं इस बार,
पर समझाया गया—सन्त से
जाय कहीं श्रीमन्त न हार।
वहाँ जीत कर भी अपयश है—
भिक्षुक पर इतना अभियान ?
रहे शान्ति से यदि वह आगे
तो समुचित है क्षमा-प्रदान।
बार बार जीते यों गुरुवर
किन्तु पहाड़ी भूप कठोर,
जाने लगे फूट कर उनसे
क्रम से शत्रु जनों की ओर।

कर ला लाकर फिर यवनों के
वे सब होने लगे अधीन,
एक एक कर दण्डित होकर
दुर्विध हुए वहाँ भी दीन।
गुरु-गज पर चढ़ने के इच्छुक
खड्ग चलाते जिसकी सूँड़,
घेर घुमाये गये गधों पर
डाढ़ी-मूँछ और सिर मूँड़।
प्राण बचे, पर मान गया सो
गुरु पर उतरा इसका रोष,
जो बाहर कुछ कर न सकेंगे,
देंगे घरको को ही दोष।
विवश सन्धि करके भी गुरु से
मन में थे वे उन पर क्रुद्ध,
अवसर पाते ही प्रायः सब
फिर उनसे होगये विरुद्ध।
'हम राजा, गोविन्द भिखारी,
दिखलावे हम पर अधिकार ?'
यवनों से मिल मिल कर अब वे
गुरु पर करने लगे प्रहार।

गुरु ने कहा—"अकाल पुरुष की
जैसी इच्छा, जो भवितव्य,
हम अपना कर्त्तव्य करेंगे
विधि अपसव्य रहे या सव्य।
आठ सहस्र सैन्य जन गुरु के
किन्तु उधर थे बीस सहस्र,
तोप, तीर, तलवारों से अब
चला अहर्निशि युद्ध अजस्र।
चलतीं इधर उधर से तोपें
गढ़ पर अड़ते दिन में सिक्ख,
और रात में असियाँ चलतीं—
बढ़ कर लड़ते जिनमें सिक्ख।
बढ़ता था उत्साह सिखों का
घटते देख शत्रु दिन रात,
बनती और बिगड़ती जाती
एक साथ दोनों की बात।
छोड़ा मत्त नाग रिपुओं ने
गढ़-कपाट डाले जो तोड़,
दिया विचित्रसिंह ने उलटा
भाले से उसका सिर फोड़।

दला द्विरद ने अपना ही दल;
भागा जो पीछे चिंघाड़;
सिंह-समान दहाड़ सिक्ख भी
टूट पड़े पंजे-से झाड़।
जब तक अरि सँभलें, बहुतों को
मार गये गढ़ से वे भाग,
बिल से निकल काट वैरी को
घुसे यथा फिर बिल में नाग!

मातृ-भक्ति

सिंह-रूप भी गोरक्षक थे
गुरु गोविन्दसिंह बेजोड़;
वैरी ने गो-शपथ दिलाई
लड़ें न यदि अब वे गढ़ छोड़।
भोली-भाली गुरु-जननी को
इससे हुआ बड़ा संकोच,
यह गो-शपथ निभेगी कैसे
होने लगा उन्हें अति शोच।

गाय बनाई थी आटे की,
और गले मे था यह लेख;
हँसे घृणा से वैरिजनों की
गुरु यह सारी लीला देख।
"फँसे वैरियों की बातों मे
यहाँ नहीं है ऐसे मूढ़;
यह तो भौंड़ी रही, दूसरी
युक्ति निकाले वे कुछ गूढ़।
स्वकृत शपथ ही पालनीय है—
यों उनको भी है सौगन्ध—
'जो वे भारत छोड़ न जावें,
तोड़ न जावें सब सम्बन्ध।'
गो-ब्राह्मण के रक्षणार्थ ही
करता हूँ मै यह आयास,
पर अपने कुत्सित कर्मों का
क्या उत्तर है उनके पास ?
एक बार गायें आगे कर
यवन होगये थे कृतकार्य,
वार न करके, बस प्रहार ही
सह कर हार गये थे आर्य।

न तो भक्षकों से गायें हो
बचीं, न उनके रक्षक आप,
क्षुद्र पुण्य के भ्रम में यों ही
किये हाय ! हमने बहु पाप।"
माँ ने कहा—"ठीक है बेटा,
वही करो जो समझो ठीक;
तुम सपूत हो, जैसी चाहो
स्वयं चलाओ अपनी लीक।
फिर भी हम अबलाएँ ठहरी,
होता है इससे कुछ खेद;
दुर्बल हृदय काँप उठता है
जान समझ कर भी सब भेद।"
माँ की आँखों में आँसू थे,
हाय गाय की शपथ कठोर!
गुरु भी गद्गद हुए देख कर
भक्ति-भाव से उनकी ओर।
"माँ, बाहर मैं लड़ न सकूँगा,
शत्रु समझते हैं यह बात,
अच्छा, चौड़े ही में मुझ पर
कर देखें अब वे आघात।

तुम प्रसन्न हो तो मैं वह भी
कर डालूँ जो हो वीभत्स;"
माँ ने उन्हें लगा कर उर से
कहा—"जियो, विजयी हो वत्स !"
गिरि से सिंह-सदृश गुरु गढ़ से
निकले परिकर-वृन्द समेत;
मिटा द्विरद-मद विपक्षियों का
फिर भी छोड़ भगे वे खेत।
चली न उनकी चाल एक भी,
बिगड़ गई उनकी सब ओज,
दी तब सरहिन्दी सूबा ने
उन्हें बहुत-सी शाही फौज।
लड़ते रहे निरन्तर गुरुवर,
अड़े शत्रु भी घेरा डाल,
चुकी खाद्य-सामग्री गढ़ की,
दीख पड़ा अब वहाँ दुकाल।
गढ़ को छोड़ अन्त में गुरुवर
निकले सुदृढ़ बनाकर व्यूह,
फटा प्रभञ्जन से घन घन-सा
कटा, हटा फिर शत्रु-समूह।

हारे शत्रु जीत कर भी यों
मिला मरा-सा जीता दुर्ग;
जीत सके गुरु को न सामने
पाया पीछे रीता दुर्ग।
हुए सोहली के राजा के
अतिथि, गये फिर गुरु जंबूर,
लिया वहाँ के भूपति ने भी,
दिया उन्हें आदर भरपूर।
किया ख्यातसर में जाकर फिर
गुरु ने एक बड़ा दरबार;
आये दूर दूर से जिसमें
उनके सिक्ख शूर सरदार।
एक नई वन्दूक उठाकर
गुरु ने चाहा जीवित लक्ष,
तत्क्षण वढ़ आये दो दो जन
करके अपना वक्ष समक्ष।
गुरु ने कहा—"धन्य तुम दोनों,
धन्य तुम्हारी माँएँ धन्य;
जव तक शत्रु शेष है अपने
तव तक कौन लक्ष्य है अन्य ?"

सूचित किया उन्होंने सबको—
उन्नत हो आगामि-रणार्थ;
प्रस्तुत थे गुरु की आज्ञा से
और अधिक क्या, वे मरणार्थ।
आये फिर आनन्दधाम में
वे कुछ दिन यों बाहर घूम;
पुनर्जन्म-सा हुआ दुर्ग का
होने लगी वहाँ पर धूम।
भेंट लिये आते थे कुछ जन,
कलमौठे का नृप अविनीत,
बना लुटेरा उन्हें लूट कर,
कुपित हुए गुरु पुत्र अजीत।
बालक थे, चढ़ गये तदपि वे,
जैसे हो चढ़ता मार्तण्ड,
उसे सहायक सहित उन्होंने
दिया शीघ्र न्यायोचित दण्ड।
डरने लगे पहाड़ी राजा
गुरु को पुनः प्रतिष्ठित देख,
जा यवनों के द्वार पुकारे
हाय! अहित में ही हित लेख।

गाये वहाँ चाटुकारों ने
        अपनी राजभक्ति के गीत,
धार्मिकता कहते हैं बहुधा
        आत्मभीरुता को भयभीत।
गुरु की वार वार जय सुन कर
        लाल होगया आलमगीर;
हुक्म हुआ—"पकड़ो वागी को
        देखूँगा मैं उसके तीर।"
किन्तु पकड़ना खेल नहीं था
        ज्वालशिखी थे गुरु गोविन्द,
तदपि पहाड़ी हिंसक लेकर
        चढ़ आया सारा सरहिन्द।
फागुन, सत्रह सौ उनसठ मे
        जली नई होली की आग,
वढ़ वढ़ कर खेली वीरों ने
        शस्त्रों से शोणित की फाग।
चिर रण-शिक्षित यवन उधर थे
        किन्तु इधर थे दीक्षित सिक्ख,
हुए पूर्व की भाँति आज भी
        समरोत्तीर्ण परीक्षित सिक्ख।

तोपों के उस धुवाँधार में
　　शस्त्र चमकते थे इस भाँति,
विद्युद्दाम दमक उठते हैं
　　घिरते मेघों में जिस भाँति।
लोहे के पानी की वर्षा,
　　किन्तु रुधिर की ही थी कीच,
धर-धर, मार-मार की ध्वनि ही
　　सुन पड़ती थी रण के बीच।
ऐसे में भी देख एक हो
　　रूप धन्य वह सिक्ख सुधीर,
शत्रु-मित्र सब हताहतों को
　　पिला रहा था भर भर नीर।
गुरु के दुर्गादत्त खड्ग ने
　　दी अनेक अरि-पशुबलि आज,
रणचण्डी फिर उनके ऊपर
　　रखती क्यों न जीत का ताज।
गुरु की विजयध्वनि में मानो
　　अल्लाहो अकबर था मग्न;
न थे यवन ही उसके बन्दे,
　　भागे वे करके क्रम भग्न।

'वाह गुरू की फतह' हुई फिर
बजने लगे ढोल, ढफ, ढाँक;
लौटे सिक्ख यथा कृषिरक्षक
महिष, वराहादिक पशु हाँक।
पुनः पचास सहस्र सैन्य सह
चढ़े शत्रु दिखला कर ठाठ,
अबकी बार पढ़ाया गुरु ने
उनको एक नया ही पाठ।
सेना थोड़ी थी, उसमें भी
कुछ को कुछ भागों में बाँट,
पुत्र अजीतसिंह आदिक युत
भेजा अलग उन्होंने छाँट।
टूट पड़ीं वे सभी टोलियाँ
रिपु-सेना पर—जब थी रात,
उधर निकल गढ़ से गुरु ने भी
मचा दिया भीषण संघात।
दिन भर के मारे-धारे थे
पहले से ही शत्रु समस्त,
अब आकस्मिक इस विपत्ति से
ग्रस्त हुए वे अस्तऽयस्त।

खो बैठे व्याकुल होकर वे
शत्रु-मित्र की भी पहचान,
आपस में लड़ मरे बहुत-से
सभी ओर सिख ही सिख जान।
'वाह गुरू की फतह' हुई फिर
गया दूर दिल्ली तक नाद।
सब सुनकर औरंगजेब को
हो आया मानो उन्माद।
क्या लाहौर और वह दिल्ली,—
क्या सरहिन्द और कश्मीर,
एक साधु पर सारी शाही
उमड़ पड़ी इस बार अधीर।
जो कुछ हुआ जानते थे गुरु
फिर भी उनका था यह लक्ष,
जीने से बढ़ कर है मरना
लेते हुए धर्म का पक्ष!

गुरुपत्नी

कहा उन्होंने प्रिय पत्नी से
"प्रस्तुत हो, अब वही प्रसङ्ग,
क्या जाने कब कहाँ भेजना
पड़े तुम्हे बच्चो के सङ्ग।"
"पालनीय हैं बच्चे-बूढ़े,
मुझसे क्या कहते हो नाथ!
फूल-सेज पर साथ रही सो
काँटो मे न रहेगी साथ?"
क्षत्राणी के अरुण वदन पर
आया एक अलौकिक तेज,
पति के संग चिता भी बहुधा
बनती है सतियो की सेज।
"करो न मेरे लिए चित्त मे
तुम कुछ चिन्ता या सङ्कोच;
निज कर्तव्य समझती हूँ मै,
रहे तुम्हे औरों का सोच।

कुछ न कर सकें हम अबलाएँ,
मर तो सकती हैं रख धर्म्म;
किसका माथा नीचा होगा
देख हमारा ऐसा कर्म्म ?
मै सङ्कट मे साथ छोड़ दूँ,
नाथ, यही क्या मुझको न्याय्य ?
भार सिद्ध हूँगी न कभी मैं,
दूँगी यथाशक्ति साहाय्य ।
शस्त्र चला कर हर न सकूँगी
यदि मै शत्रु जनो के प्राण,
तो क्या कर न सकूँगी अपने
हताहतों का भी कुछ त्राण ?
एक घूँट जल भी अवसर पर
पहुँचा सकें कहीं ये हाथ,
तो इतने से ही कृतार्थ मै
हूँगी नाथ, तुम्हारे साथ ।
होता नहीं विपत्ति काल मे
मर्यादा का बहुत विचार,
सिक्ख मात्र मेरे बच्चे है,
हम सब हैं अभिन्नपरिवार ।

फिर भी यही चाहती हूँ मैं,
रहूँ सङ्ग सबसे अज्ञात,
लोगों की चर्चा बनती है
बाहर जाकर घर की बात।
स्वामी, तुमने बना दिया है
सिंह उन्हें भी जो थे मेष,
कहो, एक नारी को तुम क्या
दे न सकोगे नर का वेष ?
कसा तुम्हारा कटि-पट बहुधा,
बाँधा मैंने तुम्हें निषङ्ग।
इसके बदले में नर-भूषा
पावे तुमसे मेरे अङ्ग।"
"धन्य, मिटा दी तुमने मेरी
बहुत दिनों के श्रम की श्रान्ति।
मिली आज सुख-शान्ति, नहीं तो
रही सदैव कलह की क्रान्ति।
प्रकट किया अवसर पर तुमने
निज यथार्थ अर्द्धाङ्गी भाव,
फिर भी क्या आवश्यक है जो
करो आज ऐसा प्रस्ताव ?

नारी तो नारी रह कर ही
अच्छी लगती है सुकुमारि !
रुधिर-रंग में न हो कदाचित
इतना मधुर तुम्हारा वारि ।
जो हो, इसी समय होंना का
कर समता में नहीं विवेक;
सम्प्रति नहीं सोचने देता
मुझको भावों का उद्रेक ।"
"किन्तु तुम्हारी अर्द्धाङ्गी ने
सोच लिया निज निश्चित सार,
मेरी रक्षा के बदले तुम
करो विपक्ष-विनाश विचार ।"
कर सकता है एक वीर जो
करते रहे धीर गोविन्द;
चम्पक सम आनन्द दुर्ग को
छू न सके बहु वैरि-मिलिन्द ।
गुरु की विकट मार ने उनको
बढ़ने दिया न गढ़ के पास,
फिर भी वे उस सिंह-शैल को
घेरे रहे सजग-सायास ।

अधिक अधिक है, अल्प अल्प हैं,
जूझ रहे थे दोनों पक्ष,
सिक्ख स्वल्प थे, हार बिना भी
हार देखने लगे समक्ष ।
इतने पर भी हुई दुर्ग की
भोजन-सामग्री निःशेष;
भूखे भक्ति नहीं होती है;
युग-सा कटने लगा निमेष ।
उधर विपक्षी भी अस्थिर थे
फिर अपना न मान वह जाय;
शान बचे शाहंशाही की
जैसे रहे बान रह जाय ।
भेजा गढ़ मे दूत उन्होंने
बोला वह—"अब भी है योग,
अब भी दुर्ग छोड़ जावें गुरु,
छेड़ेंगे न उन्हे हम लोग ।
बादशाह से वैर ! नहीं है
इसमे गुरु-गति-मति का गन्ध,
अच्छा हो कि सन्धि कर ले वे
कर के जाति-बन्धु-सम्बन्ध ।

गुरु के पुत्र अजीतसिंह ने
कहा गरज कर "खड्ग निकाल,—
"बस, अब जीभ सँभाल, नहीं तो
कण्ठ काट देगी करवाल।
तेरा बादशाह होगा वह
मेरा धर्मद्वेषी दस्यु,
स्वयं असुर का असुर रहेगा
होकर भी सुर-वेषी दस्यु।
मरने के डर से यवनों से
होगी नहीं हमारी सन्धि,
होती है विग्रहगर्भा ही
तुम जैसों की सारी सन्धि।
हम जीने के लिए करेंगे
सम्भव या समुचित सब यत्न,
पर मरने के डर से हमको
डरा सकेंगे नहीं सपत्न।
जूझ रहे हैं धर्म-हेतु हम
चाहे जो कुछ हो परिणाम;
अपनी हार-जीत तुम जानो
कर्म हमारे हैं निष्काम।

देख रहे हैं जीवन-कौतुक
हम हैं परमपुरुष के दास;
जो कुछ यहाँ हाट में लेंगे
रख देंगे सब प्रभु के पास।"

अधीर सिक्ख

लौट गया चर, इधर सिखों का
लोट गया धीरज भी लेट;
कायर कर देता है बहुधा
वीरों को भी पामर पेट।
गुरु से कहने लगे बहुत जन
"चलिए निकल चलें गढ़ छोड़,
शत्रु न छेड़ेंगे, कहते हैं,
जूझेंगे फिर हम दल जोड़।"
गुरु ने कहा—"भाइयो, रोको,
पत्ते-सा न हृदय हिल जाय;
सम्भव है रक्षा पाने का
कुछ उपाय अब भी मिल जाय।

वैरी की बातों मे आये
　　और गये—होगा बस नाश;
तुम्हे निकल जाने देंगे वे
　　जो ताने बैठे हैं पाश?
अच्छा चलने के पहले तुम
　　भिजवा देखो कुछ सामान;
काठ-कवाड़, लीतड़े-लत्ते
　　रखना उसमे यही प्रधान।"
भिजवाया लदवा कर बाहर
　　गुरु ने ऐसा ही कुछ माल;
देखा गया—शत्रु उस पर भी
　　बढ़कर टूट पड़े तत्काल।
यह सब देख निराश भाव से
　　बोले सिक्ख वचन यों दीन—
"यवन नहीं छेड़ेंगे हमको,
　　यदि हम सब हो जायँ अधीन।"
"यवनो की अधीनता?" गुरुवर
　　गरज उठे—"तुमको धिक्कार;
ऐसे जीने से तो मुझको
　　मर जाना अच्छा शत बार।

यवनों से निज सन्धि न होगी,
फहरेगा बस विग्रह-केतु,
क्योंकि हमारे लिए म्लेच्छ वे,
हम काफिर हैं उनके हेतु।
यवनों की अधीनता ? कैसे
निकली मुहँ से ऐसी बात ?
इसी लिए क्या सिक्ख-संघ का
उनके संग हुआ संघात ?
हा ! तुम तपोभ्रष्ट होते हो,
जाते हो यों मुझको छोड़;
तो लिखदो—'हम सिक्ख नहीं हैं'
और चले जाओ मुहँ मोड़।"
थे ही कितने ? कुछ सौ ही थे,
खिसक गये धीरे से सिक्ख;
छँट कर पैंतालीस रहे बस
कटे छँटे हीरे से सिक्ख।
"तुम्हीं वहुत हो" वोले गुरुवर—
"व्यर्थ न था मेरा आयास,
आज पाँच प्यारे वे मेरे
तुम्हें मिला कर हुए पचास !"

फिर भी कुछ साहाय्य कहीं से
पा न सके वे सिख-सिरमौर;
आ न सका बाहर से कोई
चले गये घर से ही और।

बलिदान

अब क्या करते, एक रात को
रच कर सूची-व्यूह कठोर,
छोड़ चले आनन्द-धाम को
वे चमकौर दुर्ग की ओर।
जब तक टूटें उनके ऊपर
पाकर इधर शत्रुगण गन्ध,
किया स्त्रियों-बच्चों का गुरु ने
तब तक जो कर सके प्रबन्ध।
भीतर आर्द्र, किन्तु बाहर वे
थे घन-सम गम्भीर नितान्त,
करने लगे विदा उन सबको
करके स्निग्ध गिरा से शान्त।

अधिक कथन का समय नहीं था
गुरु ने कहो एक ही बात—
"वीर-वत्स तुम वहीं रहो बस,
सहो भले ही सौ उत्पात।"
कर धर अग्रज जोरावर का,
जिसका वय था बस नौ वर्ष,
गुरु का सात बरस का बच्चा
बोला फतहसिंह सविमर्ष—
"पिता, हटाते हो क्यों हमको
क्या हम बाँधे नहीं कृपाण ?
चला सकेंगे क्या न उसे हम ?,
तुम्हीं चलाओगे निज बाण ?"
"इससे भी गुरु कार्य हेतु मैं,
भेज रहा हूँ तुमको तात,
है मुझ गुरु की फतह तुम्हीं मे
जाओ, यश पाओ अवदात।"
कह सकता था हाय ! कौन जन
कहाँ मिटेगा यह विच्छेद ?
ओस नहीं, ऊपर से आँसू
बरसाता था स्वर्ग सखेद।

अन्धकार के सन्नाटे में
था सन-सन कर रहा समीर;
मानो पीछे छोड़ मौत को
बढ़े जा रहे थे सब वीर।
आगे आ आकर अरि-भय की
आकृतियाँ देती थीं शाप,
किन्तु चीरते हुए उन्हें वे
चले जा रहे थे चुपचाप।
टुकुर टुकुर टकटकी लगाये
देख रहे थे तारे दीन;
वीरों की छाया भी मानो
उन्हें छोड़कर हुई विलीन।
सहसा शोर हुआ पीछे से,
आगे ही था गढ़ चमकौर;
बोला वीर अजीतसिंह तब,
"पीठ दिखाना है अब और।
हम वीरों के व्रतधारी हैं,
झेलेंगे छाती पर घाव;
पूजेंगे हृदयस्थित हरि को
उन्हीं पङ्कजों से निज भाव।"

लौट पड़ा रणधीर झूम कर,
लौट पड़ा सब शूर-समाज;
आत्मसमर्पण भावी गुरु को
किया स्वयं गुरु ने भी आज।
क्षण भर मे हो यवन आगये
दो सेनापतियों के साथ;
असिसंयुत उल्काएं भी थे
लिये हुए बहुतों के हाथ !
रसनाएँ लपलपा उठा निज
बहुसंख्यक वह भीषण काल,
जिनके साथ साथ डाढ़ें भी
चमक रही थीं कठिन कराल !
गरजे गुरु के शिष्य सिंह-सम—
"एक अकाल, एक ओङ्कार !"
सहम गये सब वैरी सहसा,
कर न सके वे बढ़ कर वार।
पाँच पंक्तियों मे दस दस जन
करने लगे यथाक्रम युद्ध,
गिर गिर कर दस से पचास तक
वैरी हुए और भी क्रुद्ध।

आन वान पर रक्तदान कर
जीवन वार रहे थे सिक्ख;
आह न करके "वाह गुरू की
फतह" पुकार रहे थे सिक्ख।
बढ़ते आते थे हट कर भी
वैरी सहते हुए प्रहार,
गढ़ की ओर सिक्ख हट कर भी
करते थे बढ़ बढ़ कर वार।
कहा अजीतसिंह ने गुरु से—
"दूर नहीं अब गढ़ का कोट;
किन्तु कदाचित् सब जूझेंगे,
कोई पा न सकेगा ओट।
तात, तुम्हारा लघु जन हूँ मैं,
करो आज तुम अपना त्राण;
पुनः प्रभावित होंगे तुमसे
मेरे ऐसे अगणित प्राण।"
"मेरा और-पुत्र ! तुम सबका
रक्षक है बस एक अकाल,
तरो शत्रु-शोणित मे मेरे
मानस के तुम मंजु मराल।"

छूकर चरण पिता के तत्क्षण
आगे झपटा वह विक्रान्त,
सिक्खों का बुझता दीपक-सा
दीप्त हो उठा भीषण भ्रान्त।
अरि-उडुगण में धूमकेतु-सा
घूम रहा था वह विख्यात,
क्या जानें कै तारे टूटे
उसके असि-भय से उस रात।
एकाकी, अभिमन्यु-सदृश, बहु—
वैरिजनों से लेकर वैर,
ऊँची गति को प्राप्त हुआ वह
रख कर उनके सिर पर पैर।
उसका अनुज जुझारसिंह था,
जिसका वय था चौदह साल,
चार बरस छोटा अग्रज से,
बोला गुरु से वह गुरु-बाल—
"आज्ञा हो, निर्भय अग्रज का
करूँ अनुसरण मैं भी आज,
रहूँ यथार्थ तनूज आपका,
रक्खूँ अनुज नाम की लाज!"

"वरो वत्स, तुम कीर्तिवधू को
बाँधे हुए मान का मौर;
निज गुरुकुल का नाम-निकेतन
एक खंड ऊँचा हो और ।"
डाली गुरु ने दृष्टि पार्श्व में
एक युवक की ओर सगर्व,
था जो जड़-पाषाण-मूर्ति-सा—
खोकर चित्त-चेतना सर्व ।
थाम लिया झट उसे उन्होंने
गिर न जाय निश्चेष्ट शरीर,
इधर एक जन से जुझार ने
माँगा पीने को कुछ नीर ।
गुरु ने कहा—"शत्रु-शोणित से
बढ़ कर कौन नीर है अन्य ?
असि-रसना से स्वाद उसी का
पाओ, हो जाओ चिर धन्य !"
गया जुझारसिंह झोंके-सा,
गिरे अनेक शत्रु ज्यों शाल,
इधर युवक भी सँभल नीर ले
चला तीर जैसा तत्काल ।

रोक न सके रोक कर भी गुरु
विफल हुआ बल-वीर्य अमोघ,
उमड़ बाँध के ऊपर से ज्यों
निकल जाय झट जल का ओघ।
फिर भी वह कह गया कि "स्वामी,
लो निज रक्षा का पथ शोध,
मानो तुम अपने अजीत का
और स्वयं मेरा अनुरोध।"
यद्यपि आहत हुआ उधर था,
अब तब था जुझार का गात्र,
तदपि युवक ने जीवन रहते
लगा दिया मुँह से जल-पात्र।
"न जा तृषार्त, तृप्त होकर जा
ओ अपनी माई के लाल!"
"ऐं तुम कहाँ यहाँ हे माता!"
चौंक हुआ चिर नीरव बाल!
इतने ही में पुरुष-वेषिनी
गुरु-पत्नी पर हुआ प्रहार,
और प्रहारक नाहरखां था—
शाही-सेना का सरदार।

लगा उसी क्षण उसके सिर में
आकर गुरु के कर का बाण,
गुरु-पत्नी के रहते रहते
उस घातक ने किया प्रयाण।
उसका साथी सेनापति भी
हुआ हताहत उसके बाद,
छाया क्षुब्ध शत्रुसेना में
एक साथ भय और विषाद।
चुने शत्रुओं को चुन चुन कर
गिरा रहे थे गुरु-शर चण्ड,
उगल रहा था कालानल-कण
क्रुद्ध कुण्डलाकृति कोदण्ड !
कुछ कर धर न सके अरि उनका
हुए स्वयं मर मर कर मन्द,
गुरु आगये अन्त में गढ़ में
और हुए झट फाटक बन्द।
उन पचास साथी शूरों में
शेष बचे थे केवल पाँच,
पैंतालीस होम अपने को
बचा गए थे उनकी आँच।

अपनी नहीं, पुत्र-पत्नी के
अनुनय की रक्षा के हेतु
रिपु-समुद्र तर सके आज गुरु
ज्यों त्यों कर रच कर शर-सेतु।

आत्मरक्षा

किन्तु सुरक्षित न थे वहाँ भी,
करके पृष्ठ भित्ति में छेद,
उसी रात को निकल गये वे,—
मानो पक्षी पिञ्जर-भेद !
रह कर दिन भर एक गहन में,
चल कर फिर वे रातों रात,
मिले गनीखाँ और नबीखाँ,—
दो पठान धनियों से प्रात।
दोनों घोड़ों के व्यापारी,
गुरु के परिचित थे प्राचीन,
विस्मित हुए देख कर सहसा
वे इनका कुछ वेष मलीन।

आश्रय दिया उन्होंने इनको,
किया उचित स्वागत-सत्कार;
कहने लगे अन्त में दोनों
हर्ष प्रकट कर बारंबार—
"हम तो रोज़गार करते हैं,
मिला आप जैसा यह माल,
बादशाह के हाथ बेच कर
हो जावेंगे आज निहाल !"
गुरु ने कहा—"भला बेचो तो ?
लाभ रहेगा निस्सन्देह;
तुम ऐसे होते तो मुझको
न था तुम्हारा ही यह गेह।
घोड़ों का सौदा करते हो
मुझ ऐसे पुरुषों के साथ,
पर तुम बेच नहीं सकते हो
पुरुषों को पशुपन के हाथ।
मैं कुछ पुरुष-परीक्षा का भी
करता रहता हूँ अभ्यास,
मुझे कभी धोखा देगा तो
देगा मेरा ही विश्वास।

आया नहीं यहाँ मैं योंही
आँख बन्द करके या भीम;
हिन्दू-मुसलमान हम दो हैं,
किन्तु एक है राम-रहीम।
यवनों का हिन्दू-विरोध ही
मुझे किये है यवन-विरुद्ध;
और नहीं तो मनुज मात्र में
रखता हूँ मैं समता शुद्ध।
हिन्दू-गुरु हूँ मैं पहले ही,
हूँगा आज तुम्हारा पीर;
मुझे मालवे पहुँचाने की
करो यही अब तुम तदबीर।"
सहज साधु थे, यवन सन्त बन,
बिखरा कर सिर के सब बाल,
छिपे घनों में भानु-तुल्य गुरु,
बचे बैरियों से उस काल।

बच्चों की हत्या

किन्तु हाय ! उनके वे बच्चे
उनकी बूढ़ी माँ के साथ,
शबर-जाल में सिंही-शिशु सम—
पड़े काल रिपुओं के हाथ !
कहते हैं, गुरु का द्विजजन्मा
गंगाराम नाम का भृत्य,
यवनों से मिल गया लोभ-वश,
किया उसीने यह दुष्कृत्य ।
होते हैं ब्राह्मण-कुल में भी
रावण-से राक्षस बहु वन्य,
और विभीषण-तुल्य राम के
भक्त राक्षसों में भी धन्य !
ऊँचों में भी नीच मिलें तो
ऊँचों का यश हो क्यों मन्द ?
गुरुओं के वैरी थे बहुधा
स्वयं उन्हीं के भाई-बन्द ।

सरहिन्दी सूबा के सम्मुख
ले जाये जाने की बेर,
बच्चों से बूढ़ी दादी यों
बोली,—उन पर कृश कर फेर—
"हे मेरे बेटे के बेटो,
मेरे दुगुने हर्ष-विषाद !
मरे तुम्हारे दादा कैसे,
तुम्हे न भूले इसकी याद ।
आज बहुत करके तुमको भी
अदय यवन डालेंगे मार,
किन्तु वही करना कि कहे सब
'सिर दे डाला, दिया न सार ।'
वत्स, न भूले तुमको अपने
पूज्य पिता की अन्तिम बात—
'वीर वत्स तुम वही रहो बस,
सहो भले ही सौ उत्पात ।'
जाओ, उधर अमर हो तुम, लो—
हिन्दू के घर घर अवतार,
मरूँ इधर मैं रोती-गाती—
'सिर दे डाला, दिया न सार ।"

"दादोजी निश्चिन्त रहो तुम,
गाओ और मनाओ मोद,
मृत्यु एक निद्रा है अपनी,
सेज अकाल पुरुष की गोद।
नित्य खेलते थे लड़कों में
हम मरने-जीने के खेल,
अनायास क्रीड़ापूर्वक ही
लेंगे उसे यहाँ भी झेल।"
भरा हुआ था बड़े ठाठ का
सूबा का शाही दरबार,
खड़े हुए थे देवदूत-से
गुरु के दोनों दिव्य कुमार।
निर्निमेष रह गये देखते
क्षण भर सब विस्मय के साथ,
फेरे बड़ी दाढ़ियों पर फिर
काजी-मुल्लाओं ने हाथ।
बोला तब सूबा वज़ीर खाँ,—
"क्या अच्छे लड़के हैं वाह!
इनके साथ खेल उठने को
हो उठती है जी में चाह।

बच्चो, मुसलमान होने को
　　हो जाओ अब तुम तैयार;
तुम्हे मारने के बदले हम
　　प्यार करेंगे सौ सौ वार।"
"तो क्या फिर हम नहीं मरेंगे ?
　　अमर रहोगे क्या तुम आप ?
किन्तु अमर हों तो भी हम तो
　　नहीं करेंगे ऐसा पाप।
बूढे भी मर मिटे हमारे,
　　फिर हम बच्चों की क्या बात ?
वीर-वत्स हम, वहीं रहेंगे,
　　सहें भले ही सौ उत्पात।"
"अरे, तुम्हारे बूढ़ों ने तो
　　कर ली थी दुनियाँ की सैर,
तुम नादान, मौत के घर मे
　　रखने जाते हो क्या पैर ?'
"रक्खो तुम दानापन अपना,
　　रहने दो हमको नादान,
बन सकते हैं बड़ी खुशी से
　　धर्म-मृत्यु के हम मेहमान।

देखी दुनियाँ ढंग तुम्हारी,
देखा यह जगतीतल तंग,
रङ्ग बदल कर भी यह गिरगिट
नहीं बदलता अपने ढंग !"
बोला फतहसिंह भाई से—
"भैया यहाँ नई क्या बात ?
वही सूर्य-शशि, वे ही तारे,
वही रात-दिन सायं-प्रात ।
वे ही फूल और पत्ते हैं—
खिले नहीं कि झड़े तत्काल !
वही भूमि, जिस पर ये मानव
डाले बैठे है पशु-जाल,
धर्म हमारे साथ हमारा,
फिर क्या हमे चाहिए तात ?
वीर वत्स हम, वही रहेंगे,
सहे भले ही सौ उत्पात ।"
"तुम बच्चे हो, अभी वहाँ के
मज़े नहीं तुमको मालूम;
मरना कभी नहीं चाहोगे,
जीना चाहोगे झुक झूम ।"

"मज़े मुबारक रहें तुम्हे वे,
हमे नहीं कुछ उनसे काम;
जो रस चख कर डरें मौत से
करे क्यों न हम उसे प्रणाम ।"
"आखिर मुसलमान होने से
करते हो तुम क्यों इनकार ?"
"और तुम्हीं क्यों हठ करते हो
कि हम भ्रष्ट हों किसी प्रकार ?"
मुसकाकर बोला वज़ीरखाँ—
"मुसलमान होने के बाद,
शादी करने को जन्नत की
हूरें तुम्हे करेंगी याद ।"
"वे हूरें होंगी कि—चुड़ैलें,
इसे जानता है भगवान,
धर्म छोड़कर हमे स्वर्ग भी
जान पड़ेगा नरक-समान ।"
"मुसल्मान होने से तुमको
इज्ज़त देंगे शाहन्शाह ।"
"किन्तु धर्म्म जो धिक्कारेगा
कौन सहेगा उसका दाह ?"

"जीकर कुछ कर तो सकते हो,
अरे, देख सुन कर हँस बोल;
मर कर क्या जाने, क्या होगा,
पड़ जाओगे अभी अडोल।"
"किन्तु चाहते है कब मरना?
जीने के इच्छुक हम लोग,
तुम्हीं कर रहे हो हठ करके
हमे मारने का उद्योग।
उस जीने से जिसमे हमको
जी मे हुआ करेगी ग्लानि,
इस सन्तोष पूर्ण मरने मे
तुम्हीं कहो—है लाभ कि हानि?"
"घोड़ो पर चढ़ कर घूमोगे,
राज करोगे बने नवाब;
शूली पर चढ़कर क्या लोगे?
दोगे इसका कौन जवाब?"
"घोड़े नहीं गधे होगे वे,
राज्य बनेंगे रङ्क-निवास;
हम, जो यो ही राज मान्य है,
क्यो हो विधर्मियो के दास?

गुरु गोविन्दसिंह के बालक,
यही हमारा पद विख्यात;
वीरवत्स हम, वही रहेंगे,
सहे भले ही सौ उत्पात।
शूली ? उसका डर न दिखाओ,
सुनी कथाएँ हमने बीस,
दिये अनेक महापुरुषों ने
सार न देकर अपने सीस।
सत्य-दान करके सन्तों ने
पाई है शूली बहु बार,
दे सकता था उन्हें और क्या
यह मिथ्या मानी संसार ?
तुम्हीं कहो, कैसे छोड़ें हम
परम्परागत निज संस्कार ?
स्वयं हमारे दादा जी ने
सिर दे डाला दिया न सार।"
"बच्चो, मरना खेल नहीं है,
करो न तुम ऐसी हठ होड़।"
"तब भी हम तुम सभी मरेंगे,
है जीने-मरने का जोड़।"

"तो फिर मरो" कहा सूबा ने,—
बोल उठे कितने ही लोग—
"इन्हे कभी बचने न दीजिए
मिटें अभी आगे के रोग।"
बोला फिर नवाब बच्चों से—
"सुनलो और समझलो साफ़,
मैं कर भी दूँ, पर न करेंगे
क़ाज़ी-मुल्ला तुमको माफ़।"
"खोलें बड़ी ख़ुशी से हम पर
वे सब अपने लाल कुरान,
किन्तु हमारा दोष नहीं कुछ,
इसका साक्षी है भगवान।
मारे जावें यहाँ भले ही,
नहीं करेंगे हम अपघात;
वीर वत्स हम, वही रहेंगे,
सहे क्यों न सौ सौ उत्पात।"
"तो जो कुछ कहना हो, कहलो,
करलो तुम अपनों की याद।"
"क्षमा करे वह हरि हम सबके
अनजाने के सभी प्रमाद।"

"सुनो, हमारे नबी, ख़ुदा से
तुम्हे बख्शवा देंगे हाल।"
"तब क्या उनके बल पर ही तुम
करते हो ये कर्म कराल ?
अग्रवर्तियों के अनुयायी
करें न उनके पीछे भूल,
मुक्ति दिलावेंगे स्वकर्म ही,
नहीं किसी के नबी-रसूल।"
गरज उठे सब काज़ी-मुल्ला—
"ओ पाज़ी, काफिर कम्बख्त !"
काँप उठा था मानों उनके
शाही मज़हब का ही तख्त !
फतहसिंह ने कहा—"भले ही
छोड़ो तुम वाणी के बाण;
धोखे में छिन गये प्रथम ही
हम दोनों के यहाँ कृपाण।
खरी बात रूखी होती है,
किन्तु रहे तुमको यह ज्ञात—
वीर वत्स हम, वही रहेंगे,
सहें क्यों न सौ सौ उत्पात।"

कुछ सहृदय धीरे से बोले—
"क्या अच्छे बच्चे थे, वाह्!
कच्चे होने पर भी कितने
पक्के थे, सच्चे थे, वाह्!"
"बच्चे मगर साँप के बच्चे"
गरजे काज़ी-मुल्ला घोर—
"किये जायँ ये पक्के काफ़िर
जीते जी दोनो दरगोर।
मिट्टी नहीं, ईंट-चूने से
चिनवा दिये जायँ ये ढीठ,
पहचानें कुछ तो मरने को
ये क्या, इनके बाप बसीठ।"
"तुम तो मरने को कहते हो,
डरते होगे उससे आप,
मरना क्या, जीने को भी कुछ
गिनते नहीं हमारे बाप!"
जोरावर ने कहा फ़तह से
"भाई घबराना मत आज,
जाति, धर्म, कुल और देश की
रखनी होगी तुमको लाज।"

"भैया, मैं क्यों घबराऊँगा ?
मुझ पर गुरु-वाणी की छाँह;—
'सिर देकर भी नहीं छोड़िए,
धर्म और वह पकड़ी बाँह।'
वाह ! गुरू की फतह—मुझी में,
शत्रु जनों के सिर पर लात;
वीरवत्स हम, वही रहेंगे
सहे भले ही सौ उत्पात।"
अचल खड़े थे दोनों बच्चे,
बने आप निज विजयस्तम्भ;
चारों ओर अन्त में उनके
हुई चिनाई ही आरम्भ।
निर्दय शत्रु निहार रहे थे,—
थे निष्कम्प उभय कुल-दीप;
सब प्रस्ताव-पतङ्ग खलों के
दग्ध हुए, जो गये समीप !
जब पैरों तक हुई जुड़ाई
कहने लगा नवाब नृशंस—
"अब भी इस पिंजड़े के बाहर
आसकते हो तुम दो हंस।"

"हमें बन्द करके भी इसमें
पा न सकेगा तू ये प्राण;
पावेंगे युग हंस इसी क्षण
हरि के पद-पद्मों में त्राण।"
"अरे कमर तक चिने गये हो,
बोलो, अब भी है मंजूर?"
"धन्यवाद! अपनी समाधि यह
देख रहे हैं हम भी घूर।"
"और देखता हूँ भैया मैं—
पागल सिक्खों का समुदाय,
जो इन हतभाग्यों की दारुण-
दुर्गति बना रहा है हाय!"
काँप गया सुनकर वजीरखाँ,
बोला फिर भी सँभल-सँभाल—
"अब भी मुसलमान हो—बोलो?
गला बन्द होता है हाल।"
कहा कुपित हो जोरावर ने—
"मुसलमान हो हम किस हेतु?
क्या, निज जैसे निर्दोषों को
जीवित चुना करें, इस हेतु?

धिक् अधर्मियो, यही भला है
कि वह गला हो जावे बन्द,
तुम जैसे हत्यारों से जो
बोला, होकर भी स्वच्छन्द ।"
आँख बन्द कर हुए विमुख-से,
उन नीचों से वे निष्पाप,
माता-पिता और उस प्रभु का
चिन्तन करते थे चुपचाप ।
जीते जी चुन दिये गये यों
वे दोनों माई के लाल,
गाड़ धरें ज्यों चोर चुराकर
किसी धनी के मोती-माल !
चिर नीरवता ! तदपि वहाँ पर
सुन-सा पड़ता रात विरात—
"वीरवत्स हम, वही रहेंगे,
सहे भले ही सौ उत्पात !"
बाहर जाते शिशु को धरने
जाय यथा माता पुचकार,
बूढ़ी दादी भी बच्चों के
पीछे छोड़ गई संसार ।

एकाकी

गुरु गोविन्दसिंह सब सुनकर
रहे अचलसे एक निमेष,
अनुभव करने को भी मानो
शक्ति न थी उनमें अवशेष।
कुटुम्बियों के बिना अकेले,
सहने लगे आज वे शोक,
प्रातः काल बिना तारों का
ओषधीश ज्यों इन्दु अशोक।
क्षोभ-शोक दोनों के मारे
हाल सिखों का था बेहाल,
आँधी-पानी में होते हैं
यथा अचल भी चञ्चल शाल।
उच्चाशय गुरु हुए न विचलित
पाकर भी बाधा विकराल,
घनाच्छन्न होने पर भी रवि
जाता है अपनी ही चाल।

"जड़ से उखड़ा समझो अब यों
उद्धत यवन राज्य का झाड़,"
कहते हुए उन्होंने सहसा
वहीं एक कुश लिया उखाड़।
"खोकर भी सर्वस्व आज मैं
हुआ अधिकतर आदरणीय,
होता है लघु पवन आप ही
उच्च,-स्वच्छता से वरणीय।
मर कर भी आदर्श रूप में,
अमर हुए मेरे शिशु बाल;
बीज यथा मिट्टी में मिलकर
उपजाते हैं सुफल रसाल।
जिस कुल, जाति, देश के बच्चे
दे सकते हैं यों बलिदान,
उसका वर्तमान कुछ भी हो,
पर भविष्य है महा महान।
गुरुकुल वार चला अपने को
जाति-धर्म के ऊपर आज,
समझे स्वयं ग्रन्थ साहब को
अब अपना गुरु सिक्ख समाज।"

गुरु ने स्वयं ग्रन्थ साहब का
फिर सम्पादन किया सशुद्धि,
दिखलाई सब ओर उन्होंने
अपनी विमल विलक्षण बुद्धि।
रामराय ने गुरु-वाणी का
भय से पाठ किया था अन्य,
गुरु गोविन्द वही कर निर्भय
बने स्वयं संशोधक धन्य !
जो था "नीले कपड़े पहने
तुर्क पठानी अमल भया,"
हुआ कि—"नीले कपड़े फाड़े,
तुर्क पठानी अमल गया।"
तब गुरु ने औरंगजेब को
भेजा अपना वह जय पत्र,
जो उनकी वाणी-रानी का
बना आज भी राजच्छत्र।
"तुझे चुनौती देता हूँ मैं,
आ तू और दिखा औचित्य—
अपनी उस धार्मिकता का जो
कर सकती है ऐसे कृत्य।

करके यह शैतानपरस्ती
बनते हो तुम खुदापरस्त ?
हम काफिर है, जो जड़ मे भी
चेतन को पाकर हैं मस्त ?
यह घात-प्रतिघात न जाने,
कब तक होगा कहाँ समाप्त,
क्रूरग्रह-सा तेरा आत्मा
भटके उस विग्रह मे व्याप्त !
मेरे क्रोध-विरोधों का भी
तेरे ही ऊपर है दाय,
रह न जाय कोई उपाय तव
खड्ग खींच लेना ही न्याय !
भ्रातृ-रक्त मे सान बनाया
तू ने जो मिट्टी का कोट,
ढा देगी मेरे लोहे के
पानी की वर्षा की चोट !
मार सिह के शिशु सूने मे
करे भले ही गर्व शृगाल,
किन्तु याद रक्खें, जीवित है
अब भी यहाँ केसरी काल ।"

पहुँच गये गुरुवर्य मालवे,
होने लगा सङ्घ समवेत,
फिर भी शाही सेना से वे
लेने लगे बराबर खेत ।

मुक्तसर

एक बार वन मे, जब कुछ ही
सैनिक जन थे उनके पास,
तभी आ दबाया रिपुओं ने
उन्हे समझ कर अबल उदास !
पुरुपार्थी लोगो का साथी
होता है अदृष्ट भी आप,
आ पहुँचे कुछ सिक्ख अचानक
और कटा वह संकट पाप ।
धूसर सन्ध्या थी, ऊपर से
झांक रही थी तारा एक,
नीचे प्राणदान कर कैसे
रक्खी थी वीरो ने टेक ।

गुरुवर गोदी में रक्खे थे
एक हताहत जन का सीस,
जूझे थे उसके साथी जो
उसे मिलाकर थे चालीस।
"भगवन्! हम हैं वही अभागे,
भागे थे जो तुमको छोड़,
हाय! हमारा मुँह मत देखो,
आये थे हम सब मुँह मोड़।"
"चुका चुके यह उसका बदला,
भाई, अब तुम करो न खेद;
बहा दिया निज शोणित तुमने;
बहता जब तक मेरा स्वेद।
क्षमा किया मैंने तुम सबको,
माँगो कुछ जाने के पूर्व।"
"फाड़ डालिए लिख आये थे
जो कुछ हम आने के पूर्व।
सिक्ख, सिक्ख हम सदा सिक्ख हैं,
धन्य हुए निज गुरु को देख;
हा! कैसे—'हम सिक्ख नहीं हैं,'
लिखा गया हम से यह लेख?

जैसा पाप किया वैसा ही
करना पड़ा हमे अनुताप;
अबलाओं तक ने धिक्कारा
दिया आप उर ने अभिशाप।"
रोने लगा शिष्य गद्गद हो,
भर आये गुरु के भी नेत्र,
फाड़ दिया वह लेख उन्होंने,
हुआ 'मुक्तसर' तब वह क्षेत्र।

यवन साम्राज्य

लिखा चतुर औरङ्गजेब ने
गुरु जिसमे दिल्ली आजायँ,
सहज सरल विश्वासी हिन्दू
सम्भव है धोखा खाजायँ।
शूर शिवाजी के प्रति उसका
सुना उन्होंने था बर्ताव,
राजनीतिकों की वाणी का
अर्थ-भिन्न होता है भाव।

व्यर्थ हुआ वाग्जाल कुटिल का,
पड़ा उसी पर यम का पाश;
एक एक संस्मरण मरण था,
बहुरूपी था उसका नाश !
मरा इधर तो वह छटपट कर
चला उधर पुत्रों मे युद्ध;
वे मानो कुलरीति पालकर
बढ़े परस्पर पूर्ण विरुद्ध।
कामबख़्श के उष्ण रक्त से
आज़मशाह हुआ अभिषिक्त !
पड़ा बहादुरशाह सोच मे,
दिल्ली थी सेना से रिक्त।
तब उसने गुरु से सहायता
माँगी, क्षुद्र भावना भूल;
भय से नहीं, किन्तु अनुनय से
होते हैं मानी अनुकूल।
सैन्यदैन्य हर कर गुरुवर ने,
भरकर अपना बलप्रवाह,
मारा स्वयं समर मे उसका
बान्धव वैरी आज़मशाह।

बन्दा वैरागी

इसके बाद गये गुरु दक्षिण,
　　जो हीरों-चीरों का प्रान्त;
हिन्दू-कुल-गौरव के मानी
　　थे जिसके विजयी विक्रान्त।
सुना उन्होंने वहाँ विलक्षण
　　बन्दा वैरागी का नाम,
यह संसार छोड़ जो मानो
　　करता था लोकोत्तर काम।
सुत-धन खोजाने से उनको
　　थी ऐसे ही जन की खोज,
जो उनका अधिकार-भार ले,
　　रक्खे तपस्तेज-बल-ओज।
अपने को देखा, जो देखा
　　वैरागी ने गुरु की ओर;
उसे कलाधर-तुल्य देख कर
　　गुरु-हृदयोदधि उठा हिलोर!

"यह शरीर सम्पत्ति और यह
 तेज ! किन्तु उस पर यह वेश !
इहलौकिक कर्त्तव्य वीर ! क्या
 हुए तुम्हारे सब निःशेष ?
भाई, किधर जा रहे हो तुम
 अपना ओक-लोक सब छोड़ ?
अपने दीन-हीन-दुःखी हम
 बन्धु-बान्धवों से मुँह मोड़ ?
वृद्ध-अशक्तों से क्या होगा,
 यहाँ तुम्हीं जैसों का काम;
लौटो, भव-विभवों में बैठा
 तुम्हें पुकार रहा है राम ।
भव के किस प्रहार से कातर
 उससे विमुख हुए तुम तात !
क्यों आई यह उदासीनता ?
 मुझे बताओ उसकी बात।"
"गुरो, तुम्हारा बन्दा हूँ मैं,
 इतना ही मेरा इतिहास—
शान्त हुआ वीरव्रत मेरा—
 लेकर एक करुण-निश्वास !

मारे सिंह, वराह, भालु बहु,
मेरा जीवन था आखेट;
किन्तु तीन मरते शिशु पाये
चीर एक हरिणी का पेट।
मेरे शर से मरते मरते,
डाली उसने मुझ पर दृष्टि,
साली मेरे रोम रोम में
नीरव विष-विषाद की वृष्टि!
भागा भव को पीठ दिखा कर,
होकर भी क्षत्रिय-सन्तान;
फिर भी लज्जित नहीं आज मैं,
पाया मैंने लक्ष्य महान।
किधर लौटने को कहते हो
अब मुझको हे ज्ञाननिधान,
क्या यह पन्थ नहीं है जिसमे
करता हूँ मै स्वगति-विधान?"
"इसे अपन्थ कहूँ मै कैसे?"
कहाँ त्याग-सा तप या यज्ञ?
किन्तु समय के पूर्व सुफल भी
नहीं तोड़ते कभी रसज्ञ।

त्याग त्याग करते हैं हम सब
क्या है किन्तु हमारे पास,
छिना सभी तो धाम-धरा-धन,
त्याग नहीं यह त्यागाभास !
'रपट पड़े की हरगंगा' मे
मिट सकता है क्या उपहास ?
घर में तो वे भी स्वतन्त्र है
जो हैं सदा पराये दास !
अकबर लाल किले मे बैठे,
वन वन भटकें व्रती प्रताप;
नाम जपें हम अलग विजन मे,
यह विराग है या अभिशाप ?
गीता-पाठी होकर अब तो
समझे होगे तुम सविमर्ष—
अर्जुन-सम करुणाभिभूत हो
छोड़ भगे हो भव-संघर्ष ।
गर्भवती उस हरिणी का वध
खेदजनक था निस्सन्देह,
किन्तु तुम्हारे क्या दोपी थे
परित्यक्त वे धन-जन-गेह ?

हरिणी पर तो अड़ी तुम्हारी
करुणा-दृष्टि, शोक की सृष्टि,
पर जिस पर वह पड़ी हुई थी
पड़ी न उस धरणी पर दृष्टि !
वह थी 'स्वर्गादपि गरीयसी
जननी जन्मभूमि' चिरकाल;
देखा उसकी ओर न तुमने
था बेचारी का क्या हाल !
देखो, अब भी देख रही वह
पड़ी तुम्हारा यह मुँह जोह;
मुझे उसी की-सी लगती है,
उस हरिणी की आँखें ओह !
लूट खसोट रहे है उसको
हाय ! विजाति विधर्मी टूट,
फूट फूट कर रोती है वह,
गया कभी का धीरज छूट !
सिहासन-निवासिनी माता
पड़ी धूलि मे दीन मलीन,
निज विभु-भक्ति-स्नेह बिना है
केश रूक्ष, वेणी मणिहीन !

उसका हरा दुकूल उसी के
शोणित से, देखो, है लाल !
सुनो उसी के क्रन्दन से है
गुंजारित वह व्योम-विशाल !
'मुझे उबारो, मुझे बचाओ !'
तुम्हें पुकार रही माँ भ्रान्त,
और पुत्र होकर तुम उसके
खोज रहे हो यह एकान्त !
घर मे घुस आये है तस्कर,
करके उच्च हिमालय पार,
खोज रहे किस साधनार्थ तुम
निर्जन गहन गुहा का द्वार ?
लूट लिया है दस्युगणों ने
आकर उसके धन का कोप,
नष्ट धर्म-मन्दिर कर डाले
भ्रष्ट किये वहु तीर्थ सरोप।
वन्य वर्वरो की इच्छा ही
वनी व्यवस्था-विधि या नीति;
प्रीति चाहते हैं वदले मे
दे दे कर वे हमको भीति ।

तुम किस स्वर्ग-हेतु करते हो
अपनी वसुधा से वैराग्य ?
जहाँ जन्म पाने मे सुर भी
समझा करते थे निज भाग्य ।
बद्ध दासता के बन्धन मे
पड़े करोड़ों भाई बन्द,
लेने जाते हो एकाकी
कौन मुक्ति का तुम आनन्द ?
तुम किस धर्म-कर्म का पालन
करते हो स्ववंश-अवतंस,
अरे, तुम्हारा धर्म-कर्म तो
मेट रहे हैं म्लेच्छ नृशंस ।
श्वास कहाँ तुम चढ़ा रहे हो ?
फैला यहाँ नरक का नस्य !
है ध्रुव सत्य समक्ष तुम्हारे,
खोज रहे हो कौन रहस्य ?
हरिणी की आँखो मे तुमने
पाया करुण-शान्त-साहित्य,
देखा सुना न उन गायो का
मरना— बाँ बाँ करना नित्य !

क्या उन बहन-बेटियों को तुम
 इसी लिये आये हो छोड़,
हर ले जायँ अधर्मी उनको—
 हँस हँस कर, कर कर के होड़ !"
"हा ! गुरुदेव, मचादी तुमने
 शान्त हृदय मे कैसी क्रान्ति ?
अब तक मानो मै भ्रम मे था,
 तुमने आज मिटादी भ्रान्ति ।
आया नहीं एक क्षण को भी
 इन बातो का मुझको ध्यान,
दुःखपूर्ण है सदा आदि मे
 सुखमय रहे अन्त मे ज्ञान ।
भारत मे प्रज्वलित आज है
 उसकी चरित चिता की आग,
जले सती-तन-तुल्य उसी मे
 विषम हमारा त्याग विराग !"
"मै गोविन्दसिंह कहता हूँ
 मन की व्यथा तुम्हीं से आज,
निज जातीय पतन से मुझको
 है हिन्दू होने की लाज !"

"किन्तु आज भी हिन्दू कुल का
तुम जैसों से गौरव, गर्व;
शेष महज्जन-जनन-शक्ति है
अब भी उसमें अतुल अखर्व।"
"भाई, मैं तो अपना सब कुछ
कर आया उस पर बलिदान,
बचा न एक तनय तक मेरा,
फल के दाता हैं भगवान।"
"पर यह शिष्य-सूनु तो अब भी
है अवशिष्ट, मिले आदेश,
पूज्य स्थाणु रूप तुम मेरे,
देखो मेरा भावावेश।"
"अब भी कुछ आदेश चाहिए?
लो यह खड्ग और ये बाण,
गीता रखते हो पहले ही,
बनो वीर! बढ़ स्वयं प्रमाण।
जिसके तीन ओर अर्णव है,
चौथी ओर हिमालय पीन,
ऐसा देश-दुर्ग पाकर भी
रह न सके हा! हम स्वाधीन।

दिव्य भाव भरते थे भव मे
　　जिसके ब्राह्मण सब कुछ त्याग,
करते थे जिसके दिग्विजयी
　　क्षत्रिय वीर विश्वजित याग।
जिसके व्यवसायी वैश्यो ने
　　कर डाला था जल-थल एक,
कला-कुशल शूद्रो ने जिसकी
　　सेवाएँ की थीं सविवेक।
रमणी-रत्न-हेतु होता था
　　जहाँ कठिन लक्ष्यो का वेध,
होते थे वीरत्व-विधायक
　　राजसूय अथवा हय-मेध।
उसी देश की आज दशा यह—
　　उदासीन, अति दुर्बल-दीन!
भूल समष्टि-सिद्धि हम सब हैं
　　व्यष्टि-वृद्धि मे ही अब लीन।
आश्रम-धर्म भूल कर हमने
　　सीख लिया बस एक विराग,
क्यों न विदेशी दस्यु लूटते
　　विभव हमारा—भव का भाग।

उत्तराधिकारी तक भी हा !
नहीं छोड़ती हमको शान्ति,
रवि भी अग्नि, चन्द्र, तारों मे
रख जाता है अपनी कान्ति।
रावण-वध कर राम हमारे
करते हैं सीता-उद्धार;
कंसों को संहार कृष्ण भी
हरते हैं निज भूतल-भार।
हम क्या करते हैं कि भूल कर
उनकी शिक्षा, उनके काम,
मरते जीते 'हरे हरे' कह
जपते हैं बस मुहँ से नाम।"
"अहा ! नरो मे ही नारायण
दीख उठे है मुझको आज !
अब नर-हरि सेवा का ही मै
निश्चय करता हूँ निर्व्याज।
नहीं चलाऊँगा मै कोई
नया पन्थ, बनकर आचार्य,
सर्व-समन्वय का साधन ही
होगा इस जीवन का कार्य।"

गुरु ने कहा—"सुना है तुम कुछ
रखते हो लोकोत्तर शक्ति ?"
हँस बोला वैरागी बन्दा—
"मेरी शक्ति गुरु की भक्ति !
नहीं अलौकिक कुछ जगती मे,
चमत्कारिणी सहसा दृष्टि,
चौंके होंगे देख प्रथम हम
चकमक की, चुम्बक की सृष्टि ।
एक महात्मा की सङ्गति मे
साधा है मैंने कुछ योग,
अपनी ही विशेषताओं से
वञ्चित है बहुधा हम लोग !
पर इन चर्म-चक्षुओं का है
दिया जाल-सा तुमने काट,
दीख पड़ी है मुझे अचानक
मातृभूमि की मूर्ति विराट ।
शत गिरि पीन पयोधर माँ के
बहा रहे है अमृतस्तन्य,
सहकर सौ आघात इसी से
अमर आज भी सन्तति धन्य !

शत शत कमल-नयन जननी के
छलक रहे हैं वारंवार !
करुणा पूर्ण प्रेम के आँसू
झलक रहे हैं वारंवार !
उसके विस्तृत व्योमाङ्गन में
करे नियति निज लीलालास्य,
रोदन हास्यमयी मेरी माँ
है हम सबकी प्रथमोपास्य।
गुरु ने कहा—"वत्स, विजयी हो
यही आज है तुझको इष्ट;
मैं गुरुकुल-गौरव-गाथा का
तुम्हें बनाता हूँ परिशिष्ट।
शक विजयी विक्रम समान तुम
यवन-जयी हो स्वयं अजीत,
फल छोड़ो, पर कभी कर्म से
मुहँ मत मोड़ो गीताधीत !
कह देना जाकर सिक्खों से
भरें स्वतन्त्र बुद्धि के कोष,
हैं ग्रहणीय शत्रु के भी गुण
तथा त्याज्य गुरु के भी दोष।

साहस पूर्वक देश-काल को
अपने योग्य बनाओ आप,
बनो आप भी तदनुरूप तुम,
दे न जाय अवसर अभिशाप।"

× × × ×

कुछ सिक्खों के साथ शीघ्र ही
गया पञ्चनद बन्दा वीर,
गुरु ने नव गुरुधाम बनाया
नदी नर्मदा के ही तीर।
दो पठान बच्चे भी गुरु ने
रक्खे थे अत्र अपने साथ,
वैरी बाप मार कर उनका
पाले थे वे उभय अनाथ।
गुरु का प्यार प्राप्त करके भी
करते वे पितृ-वैर-विचार,
चन्द्रालोक लाभ करके भी
चुगता है चकोर अङ्गार।

हिंस्र जन्तु भी तपोवनों में
रहते हैं निज हिंसा भूल,
किन्तु प्रकृति तो कभी किसी की
नहीं पलटती कहीं समूल।
एक बार निशि मे कटार से
किया उन्होंने गुरु पर वार,
लोग एक अपकार याद कर
विसराते हैं सौ उपकार।
पकड़ लिया सिक्खों ने उनको,
गुरु ने छुड़वा दिया तुरन्त,
जिन्हें पुत्र-सम पाला, कैसे
उन्हे शत्रु-सम मारे सन्त ?
बोले वे—"शिक्षा देने से
हुए आज ये मुझसे क्षम्य,
विष का वृक्ष काट कर उसके
कभी न छोड़ो अंकुर रम्य।
ये ले चुके बाप का बदला
किन्तु खालसा रक्खे याद,
उसको अभी चुकाना है वह
न हो कभी इस ओर प्रमाद।

व्याध-बाण से कृष्ण-तुल्य गुरु,
उस व्रण के मिष तज निज देह,
गये, किन्तु अपने बन्दा को
वे सुन गये विजय सस्नेह !
आकर लाख लाख लोगों को
उद्बोधित कर भानु-समान,
शान्त हुए गोविन्दसिंह गुरु
क्रम से कान्त कृशानु-समान ।

परिशिष्ट

आया है वैरागी बन्दा,
गुरु का ही अवतार नवीन,
प्रेत-पिशाच और जिन भी हैं
उस मायिक के मन्त्राधीन।
शोर हुआ सब ओर देश में,
दहल उठा यवनों का चित्त;
शाही कोष लूट आते ही
बाँट दिया उसने सब वित्त।
वैर, वित्त, यश के अभिलाषी
पाकर सहसा सहज सुयोग,
बन्दा के झण्डे के नीचे
जुड़ आये दल के दल लोग।
चढ़ा सामने से वैरागी,
दस सहस्र यवनों को काट,
हाल उतारा गया अधम अरि

यह भी गुरु-शिशुमार बना था
उन्हें "साँप का बच्चा" मान;
और यहीं था तेग़बहादुर—
गुरु-वधिकों का वास-स्थान।
लूट अनेक यवन-जनपद फिर
चढ़े कुंजपुर पर सिख शूर,
सरहिन्दी सूबा के परिजन
और यहीं काज़ी क्रूर।
वध का बदला भ. र ही था,
और ब्याज मे थी वह लूट,
"जो कुछ जिसे मिले वह उसका"
दे दी वैरागी ने छूट।
आगे चलकर मिला मार्ग मे
उन पठान लोगों का ग्राम,
गुरु को छोड़ प्रथम रण मे हो
भागे थे जो नमकहराम।
"भागो अब इस भव से भी तुम
रहो नरक मे ही भट-भण्ड!"
दिया वीर वैरागी ने यों
उन्हें नया निर्वासन-दण्ड।

क्रूर कपूरी का हाकिम था
अन्यायी अभिचारी घोर,
गले लगानी पड़ी उसे अब
असि-वामा—बिजली की कोर !
चढ़ दौड़े साढ़ौरा पर सिख,
था जिसका शासक उसमान,
धरा गया गोधूलि समय में
गो-नाशक-त्रासक उसमान !
उसे देख बोला वैरागी—
"इसने ही मारा था आह !
गुरु गोविन्दसिंह का साथी
सुहृदय सय्यद बुद्धूशाह !"
"पर वह भी तो मुसलमान था"
सुन बन्दा ने पटका पैर—
"तब तो लेते हैं हम हिन्दू
तुझ काफिर से उसका वैर !
हिन्दू मुसलमान कोई हो,
जो सच्चा है वही मनुष्य;
देव और दानव दोनों ही
बन जाता है यही मनुष्य।"

वैरागी के वध का उसने
प्रण था किया दम्भ के साथ,
प्राण लिये सिक्खों ने उसके
कस कर तरुस्तम्भ के साथ।
मन्दिर तोड़ मसजिदें उसने
बनवाई थीं वहाँ तमाम,
एक रूप भी कभी जहां था
अब था वहाँ नाम ही नाम।
सब मन्दिर टूटे है फिर क्या
रह सकती है मसजिद एक,
'जैसे को तैसे' होने की
करली थी सिक्खों ने टेक।
मुखलिसगढ़ जीता वीरों ने,
दिया उसे 'लोहागढ़' नाम;
पीर अमीर मीरजादे सब
नामी नामी आये काम।
विजयी का साथी सब कोई,
स्वयं शत्रु भी होकर भीत,
वैरागी का आश्रय लेकर
रहने लगा विशेष विनीत।

पर द्विजिह्व सीधा होकर भी
नहीं छोड़ता है गति वक्र;
पकड़े गये शीघ्र ही वे सब
रचते हुए कराल कुचक्र ।
वैरागी ने कहा क्षमा के
प्रार्थी आ जावें इस ओर;
यह सुन गिन गिन कर छँट आये
जिन जिन के भीतर था चोर,
"अरे अभागो, तुम्हे मृत्यु ही
लाई थी मेरे घर घेर"
मारे गये शत्रु सब चुन कर,
हुए रुण्ड-मुण्डो के ढेर।
संवत् सत्रह सौ पेंसठ के
ज्येष्ठ मास मे निश्चित योग,
नियत हुआ सरहिन्द-विजय का,
प्रस्तुत थे पहले ही लोग।
इधर न तो वैसी तोपे थीं,
न थे अश्व-गज-सैन्य विशेष;
किन्तु प्रबल प्रतिशोध-बोध मय
था रण मरण मारणावेश!

सज सविशेष समर-सज्जा से
बोला बढ़ कर वली नवाब—
"भागा फिरा गुरू ही मुझसे,
तो फिर चेलों की क्या ताब !"
धाँ धाँ कर उसकी तोपों ने
धुँवाधार कर दिया तुरन्त,
उगल प्रलय-घन शत कृत्याएँ
करती थीं पवि-पात दुरन्त !
एक एक भौतिक कण में है
बहु जननाशक बल विकराल;
काल खोजता नहीं किसी को,
हमीं खोजते हैं निज काल !
नहीं मारते ही थे गोले,
साथ जलाते भी थे अन्ध;
साल रहा था धुँवा दृगों को
और नासिका को दुर्गन्ध !
बढ़ बढ़ कर भी सिक्ख शिखा पर
पड़ने लगे पतङ्ग समान,
वही नहीं लौटा सकता फिर
जो कर चुका शस्त्र-सन्धान ।

विचलित देखी जब निज सेना
हुआ वीर वैरागी क्रुद्ध;
हाथों से पर-वध कर, मुख से
उसको करने लगा प्रबुद्ध—
"अरे, विमुख होकर भी तुम इन
गोलों से न बचोगे आव,
प्रभु को क्या मुख दिखलाओगे
लिये हुए पीठों पर घाव !
आज वही दिन है, तुम कब से
जोह रहे थे जिसकी बाट;
जीकर नहीं, जीत कर लौटो
खड़ी कीर्ति है खोल कपाट !
याद करो गुरु के बच्चों की,
जीते चुने गये वे लाल;
आज तुम्हीं को ताक रहे हैं
कैसी करुण दृष्टियाँ डाल !
तुम्हें पुकार रहे है दोनों,
लौटो देखो, उनके आस्य;
नर-पिशाच परजन करते हैं
हृदय जलाने वाला हास्य !

दो बच्चों ने भी दे डाले
जहाँ धर्म पर अपने प्राण;
धिक् है, धर्म-विमुख होकर जो
करें वहीं हम अपना त्राण !
आओ, मैं आगे बढ़ता हूँ,
चढ़ जाओ तोपों पर कूद,
अभी चुकालो अपना बदला—
ले लो सभी सूद दरसूद !"
मानो स्वयं लक्ष्य चुनने को
छोड़ उठा शर-विषधर वीर;
पहले गोलन्दाजों का ही
पीते थे वे श्वास-समीर।
बढ़ा सन्त भट यों गोलों में
ज्यों प्रकाश-पिण्डों में लोक !
उसके पीछे विकट सिखों को
वहाँ कौन सकता था रोक ?
स्वयं शस्त्र-सम शत्रु-सङ्घ को
भेद गये वे मारामार;
रौद्र भयानक भी विस्मित थे
प्रतिहिंसा का हास्य निहार !

उनके खड्गों के पानी पर
हुआ निछावर-सा रिपु-रक्त;
काट हड्डियाँ भी मूली-सी
होने लगे प्रहार सशक्त।
जिनके चित्त चोट खाये हों
कौन सहेगा उनकी चोट?
चञ्चल होकर भाग उठे अरि,
मिले कहीं भी कोई ओट!
देख पड़ा सूबा वज़ीरखाँ,
कहने लगा गरज कर सन्त—
"अरे अधम अब कहाँ चला तू
आ पहुँचा जब तेरा अन्त?"
"पकड़ो, भाग न पावे पामर,"
दौड़े पागल ऐसे सिक्ख;
देख सामने मुख्य लक्ष्य निज
उसे छोड़ते कैसे सिक्ख?
भाग रहा था वह घोड़े पर,
एक कब्र मे उलझा पाँव;
पकड़ गई मानो वह यह कह—
'अब है वही ठौर या ठाँव'।

समर शासनादेश हुआ—"बस
इसकी चाल चला दो आज,
इसने जीते बच्चे गाड़े,
जीता इसे जलादो आज!"
बचा न धन-जन भवन, एक भी,
हुआ सभी यवनों का नष्ट;
लूट मार वध वह्नि दाह तक
प्रतिहिंसा के ही सब कष्ट!
बचने चला आपको हिन्दू
कह कर सूबा का दीवान;
कहा सन्त ने—"मुझे यही तो
लज्जा है ओ बेईमान!
ऐसे घोर नृशंस कार्य में
दिया हाय! तूने सहयोग;
जो कुछ किया लोभ या भय से
आज उसीका फल तू भोग।
हिन्दू हो या मुसलमान हो,
नीच रहेगा फिर भी नीच;
मनुष्यत्व सबके ऊपर है
मान्य महामण्डल के बीच।

सच्चा हिन्दू होकर ही मै
यह कहने के लिए समर्थ—
'तुझसा पापी हिन्दू है तो
मुसलमान हूँ तेरे अर्थ !'
मेरा राम रमा है मुझमें,
मै चाहे मणि हूँ या काच,
जो मनुष्यता के नाशक हैं
मै हूँ उनके लिए पिशाच ।
न्यायासन पर पक्षपात मै
क्योंकर कर सकता हूँ, बोल !
देखे मेरा निर्मम शासन
उद्धत अपनी आँखें खोल ।
दायी है उनके भाई यदि
मरें दोषियों मे निर्दोष;
कुछ सह सकता नहीं शत्रु का
प्रतिहिंसक सेना का रोष ।
दूर करूँगा पशुबल से ही
मै उस नर-पशुता का पाप;
काँटे से काँटा निकाल कर
निकलूँगा काँटे-सा आप ''

ढाया सब सरहिन्द सिखों ने,
किया सात दिन तक संहार;
एक बार भी शेष न छोड़ा,
करते रहे बराबर वार !
गङ्गाराम विप्र ने माँगा
कुछ प्रमाण अपने प्रतिकूल,
किन्तु कुपित सिक्खों ने उस पर
हूल दिया निज संशय-शूल।
इसके बाद भागते वैरी
जाता सन्त शूर जिस ठौर,
मार्ग रोककर किया अलग-सा
उसने दिल्ली से लाहौर
शीघ्र पहाड़ी भूपों को भी
ठीक किया बन्दा ने ठोक;
दिया उन्हें स्वातन्त्र्य असल में
शाही कर देने से रोक।
लिया विजय ने आगे आकर
गया जिधर वैरागी वीर;
फिर भी—महाराज होकर भी—
रहा जनक-सा त्यागी वीर !

दिया ववण्डर बनकर उसने
यवनों का उद्यान उजाड़,
तोड़ मरोड़ उखाड़ पछाड़े
बड़े बड़े बहु अङ्मड़ झाड़ ।
सिक्खों को हाँ दे देता था
शासन वह यवनों से छीन;
किन्तु तीन-तेरह होते थे
बहुधा वे उस एक विहीन ।
विजन पर्वतों मे जा जाकर
रह जाता था बहुधा सन्त,
फिर ज्यों ही सिर यवन उठाते
आ जाता था वह बलवन्त ।
आर्य-यवन आदरते-डरते
उसको रक्षक-भक्षक मान;
सिक्ख यथोचित श्रद्धा करते
अपना ग्यारहवाँ गुरु जान ।
कर दिखलाया वैरागी ने
कर न सके जो गुरु गोविन्द;
हरा प्रताप-तेज यवनों का,
हर न सके जो गुरु गोविन्द ।

सिक्ख-विजय-नाटक निर्माता
थे गोविन्दसिंह गुरु धीर;
पर अभिनय दिखलाने वाला
सूत्रधार था बन्दा वीर।
गुरु की विजय-पताका, जिसका
रहा पहाड़ों तक ही अन्त,
लेकर अब लाहौर आदि को
फहरी पानीपत पर्यन्त।
इस यश का रस-मूल हुआ बस
बन्दा का व्यक्तित्व अनन्य;
पर जिसका चेला चीनी हो
गुड़रूपो वह गुरु ही धन्य।
खुला खड्ग रख दिया सभा में
बादशाह ने होकर क्रुद्ध;
किन्तु उठा न सका कोई भी
उसको बन्दा वीर विरुद्ध!
फिर भी एक लाख सेना ने
दी जाकर सिक्खों को हार,
तदपि वीरवर वैरागी को
धर न सकी वह किसी प्रकार।

समझ लिया यवनों ने, हमने
बन्द किया बन्दा को दाव,
पर बन्दा की-सी आकृति का
वह था उसका भक्त गुलाब ।
ज्यों राणा प्रताप को दी थी
मानसिंह झाला ने ओट,
सही धन्य त्यों ही गुलाब ने
अपने प्रभु पर आई चोट ।
बादशाह ने वध की आज्ञा
दी उसको निज बाधक मान,
फिर भी उसकी स्वामि-भक्ति का
उसको करना पड़ा बखान ।
आप बहादुरशाह चढ़ा तब
सन्त शूर पर करके कोप,
पर निज मर्यादा रख कर भी
कर न सका वह उसका लोप ।
हुआ सन्धि का अभिलाषी तब
एक साधु से शाहंशाह,
किन्तु काल-कवलित होने से
पूरी हुई न उसकी चाह ।

तब भी—सरल सिक्ख अब भी थे
राजनीति से रिक्तप्राय;
छला उन्हे यवनो ने छल से
चला न बल से जहाँ उपाय।
फरुखसियर ने कूटनीति से
फैला दी सिक्खों मे फूट—
भरता है उनमे वैरागी
कट्टर हिन्दूपन ही कूट !
"सिक्ख नहीं वह वैरागी है"
भूल गये हा ! भोले सिक्ख;
"किन्तु बिना नेता के कैसे,
काम चलेगा !" बोले सिक्ख।
"भला ग्रन्थसाहब से बढ़कर
अन्य धर्मनेता है कौन ?"
"तदपि अग्रचेता अभीष्ट है
और यवनजेता है कौन ?"
लड़ने लगे सिक्ख आपस मे
होकर दो भागो मे भक्त;
मुकर गया हिन्दूपन से ही
तब खालसा रक्त-विरक्त !

"चख कर अमृत यथा विधि जब तक
हो न जाय वैरागी सिक्ख,
न हो शत्रु-जय मे भी तब तक
उसके रागी-भागी सिक्ख !"
यही नहीं, आगे यवनो से
मिले सिक्ख उसके प्रतिकूल;
होते है धर्मान्ध जहाँ हम
करते नहीं कौनसी भूल ?
दो गृहणियाँ और थीं गुरु की
उन्हे भुला कर भोली देख,
साधु-विरुद्ध चतुर यवनो ने
लिखा लिया उनसे निज लेख।
हँसी आगई वैरागी को
कूट नीति का निरख प्रबन्ध,
"आह ! गुरू का पंथ खालसा
हुआ आज मतवाला अन्ध।
गुरु से अधिक पूज्य गुरु-पत्नी,
नहीं यहाँ संशय का लेश,
पर गुरु-पत्नी से भी मुझको
अधिक मान्य गुरु का उद्देश।

उन भालों को शत्रु भुलाकर
कर न सकेंगे मुझको शान्त,
किन्तु सिक्ख भी हुए आज हा !
अन्धभक्ति से भ्रान्त नितान्त।
दी गुरुदेव, हाय ! क्यों तुमने
अपने उच्च हृदय की हूक ?
अमृत चखाने चले मुझे वे
विष भख रहे स्वयं जो चूक।
गुरो इन्हें कैसे समझाऊँ
कि मैं स्वयं निज गुरुता भूल,
करता हूँ संघात तुम्हारे
सदुद्देश के ही अनुकूल।
किन्तु हिन्दुओं से सिक्खों का
मुझे विरोध नहीं है इष्ट,
सम्प्रदाय है एक उन्हीं का
तत्व खालसा वीर विशिष्ट।
सिक्ख-संघ हिन्दू-कुल का ही
निज रक्षार्थ संघटन मात्र
गुरुओं ने समयानुसार ही
किये सुशिक्षित अपने पात्र।

यदि परिवर्त्तन किये न जाते
आवश्यकता के अनुसार,
तो नानकपंथी रह कर भी
होते न वे सिंह-सरदार।
हिन्दू जाति एक जननी है,
जात उसीका सिक्ख-समाज;
किन्तु आज वह रूठ रहा है,
हुआ हठी, हेकड़ हा! लाज!
कलह सुलभ है, कहते हैं हम
जिनको 'सिरमुण्डा' दो टूक,
कह सकते हैं वे भी हमको
शिखी, शिखण्डी, नरभल्लूक।
वे सिरमुण्डे तो हम डढ़ियल,
इन बातों में है क्या सार?
मस्तक और हस्त-सम दोनों
साधौ अपना कार्य विचार।
रख कर मग्न मीन-सम मुझको
रहे अमृतसर ओतप्रोत;
जयति परन्तु सिन्धु-सरयू सह
निज गंगा-यमुना के स्रोत।

छोड़ सिक्खपन तो सिक्खो ने
खना मुक्तसर ही था क्षुद्र;
निज हिन्दुत्व छोड़ कर उनको
खनना पड़े न मुक्तसमुद्र !
मै अपने व्रत से न टलूँगा,
रहे भले या जाय शरीर;
यही विनय है—बने धीर भी
हे गुरुवर्य, तुम्हारे वीर ।
जिस प्रकार समयानुसार तुम
करते गये नवीन निधान,
वैसे ही परिवर्तन करके
बनें सिक्ख भी बुद्धि-निधान ।
समय एक-सा कब रहता है,
चलता है कब एक चरित्र,
यवन आज जो अपने अरि हैं
वे ही कल होंगे निज मित्र ।
गुरो, और क्या कहूँ, स्वर्ग से
दो इतना ही आशीर्वाद—
एक काल की विधि विशेष पर,
करे न हम चिरकाल प्रमाद ।"

कल जो बन्दा के बन्दे थे
हुए आज यवनों के भृत्य !
जिनके लिए जूझता था वह
करने लगे वही अरि-कृत्य !!!
मन-वैरागी दृढ़ था, पर हा !
सङ्ग छोड़ बैठे सिख-अङ्ग;
जीते शत्रु, आप अपनों ने
उसे हराया कर रण-रङ्ग।
जब इक्कीस बात वाला वह
था बाईस लङ्घनाक्रान्त,
धर तब उसे लोह-पिंजर में
दिल्ली गया शत्रु-दल श्रान्त।
भालों पर थे दो सहस्र जन
हिन्दू और सिखों के मुण्ड;
और सात सौ की संख्या में
था बन्दी वीरों का झुण्ड।
एक और बन्दी था, वह शिशु—
बन्दा का ही लघु पर्याय !
परम्परा-रक्षार्थ किया था
उसने निज विवाह, पर हाय !

सौ सौ करके सात दिनों मे
मारे गये सात सौ शूर;
फिर भी मुसलमान होने को
हुआ नहीं कोई मंजूर।
रोने लगी एक माँ—"मेरा
बेटा नहीं साधु का भक्त"
बेटा बोला—"मारो मुझको,
मै सदैव उनका अनुरक्त!"
आसपास भालो पर सिर थे
बद्ध बीच मे बन्दा शान्त,
शाह और दरबारी सम्मुख
इधर उधर थे वधिक कृतान्त।
बच्चे के टुकड़े टुकडे कर
किये गये उस पर निक्षेप!
बिखर गये अङ्गार तुल्य वे
छोड़ रक्तचन्दन का लेप!
पूछी गई कामना उसकी,
बोला वह धीरों मे धन्य—
"यही लालसा है बस मेरी
कि हो खालसा को चैतन्य!"

कहा एक दरबारी जन ने—
"होकर भी साधू सरनाम—
कैसे किये गये तुमसे वे
ऐसे बेरहमी के काम।"
"जैसा अभी किया है तुमने ?"
मुसकाया बन्दा इस बार—
"निश्चय हमने दया नहीं की
पर वह था केवल प्रतिकार।
गुरु के वत्स-विनाशक थे जो
महा दुराचारी अति दुष्ट;
उन्हे दण्ड देकर मै अब भी
हूँ अपने मन में सन्तुष्ट।
आई आज तुम्हारी वारी,
किन्तु सोचलो इसके बाद ?
अब भी हीन नहीं है हिन्दू,
त्यागें यदि वे तनिक प्रमाद।
बदला लेना-देना भी तो
एक परस्पर का व्योहार;
आज तुम्हारे घर है तो कल
मेरे घर होगा त्योहार !

इसे न भूलो इस विग्रह का
होगा वहीं उचित अवसान,
जहाँ एक अनुताप करेगा
और दूसरा क्षमा प्रदान।
क्षमा चाहता नहीं स्वयं मैं,
दो तुम अपना दण्ड अबाध;
हमें शान्ति है क्यों कि नहीं है
प्रथम हमारा कुछ अपराध।"
बादशाह ने पूछा—"तुझको
कैसी मौत चाहिए बोल ?
धीरे से बोला वैरागी—
मूँदे हुए नेत्र निज खोल—
"जीवन जिसकी इच्छा पर है
उसकी ही इच्छा पर मृत्यु;
छोड़ जायगी स्वयं तुझे भी
क्या तेरी भिक्षा पर मृत्यु ?
आत्मा मरता है न मारता,
सुन मेरी गीता का ज्ञान—
मरने और मारने वाला
इसे जानते हैं अनजान।

त्याग पुरातन पट-सा यह तनु
रक्खूँगा मैं नूतन देह;
नया वसन-सा पहन करूँगा
फिर निज साधन निस्सन्देह।
बदला करता है यह आत्मा
बार बार वपु रूपी वस्त्र,
न तो जला सकती है ज्वाला,
न तो काट सकते हैं शस्त्र।
मुझे स्वगति के लिए प्रलय तक
नहीं देखनी होगी राह,
आज न हो, कल, नये जन्म में,
पूरी होगी मेरी चाह।"
नोची गई लाल चिमटों से
खाल, न करके फिर भी आह
किया वस्तुतः वैरागी ने
अपनी वाणी का निर्वाह!
वैरी भी विस्मित थे उसकी
नीरव सहन-शक्ति वह देख,
उसकी वह तल्लीन भावना,
श्रद्धा और भक्ति वह देख।

मिटा नहीं बन्दा वैरागी,
मिटा स्वयं सिक्खों का खेल;
और काफिरों से बनता क्यों,
मिटा मुसलमानों का मेल।
"मारो, हाँ मारो, फिर मारो,
रह न जाय सिक्खों का नाम।"
फरुखसियर के जीवन का था
मानो एक यही तो काम!
राजनीति की शुष्क वायु में
सन्धिपत्र हैं सूखे पत्र,
जन जन की धन-धरती की है
धूल वहाँ उड़ती सर्वत्र।
एक एक सिर पर सिखों के
पुरस्कार मिलते थे बीस;
तारूसिंह तुल्य सिख तब भी
शिखा न देकर देते सीस।
बनों पहाड़ों में जा जा कर
करना पड़ा सिखों को वास;
पर अगिया वेताल-तुल्य वे
देते थे अपना आभास।

"माँ तेरे कितने बच्चे हैं ?"
"चार" हुई माँ चिन्ता लीन—
"किन्तु एक तो सिक्ख होगया,
अब जीवित ममको बस तीन !"
सिक्ख मात्र के लिए नहीं था
कोई साधारण भी न्याय;
किन्तु न्याय पा सका हाय ! क्या
हिन्दू-बाल हकीकतराय ?
यवन बालकों को गाली का
उसने दिया वही प्रतिदान,
मृत्यु-दण्ड, उसको काजी ने
दिया खोल कर लाल कुरान ।
मुसलमान हो बच सकता था,
बोला बालक वीर तुरन्त—
"मेरा आदि मध्य हिन्दू है
हिन्दू ही मेरा है अन्त ।"
बूढ़ी माँ रोती थी, बोली—
"बेटा, देख हमारा हाल;
जीता तो देखूँगी तुझको,
मुसलमान ही हो जा लाल !"

"मुझे विधर्मी देखो तो हा !
तुम अन्धी होजाओ अम्ब,
ऐसा तो न कहो जो मुझसे
स्वयं तुम्हीं खोजाओ अम्ब !
मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ, गो, गङ्गा,
राम, कृष्ण, श्रुति, शास्त्र, पुराण,
तुम्हीं कहो किस किसको छोड़ूँ
लेकर मैं अपने ये प्राण ?
और चार दिन जियूँ, इसीसे
क्या सबसे मुँह मोड़ूँ हाय !
देव, पितर, आचार्य और निज
पुण्यभूमि तक छोड़ूँ हाय !
धर्म कर्म के साधनार्थ ही
यहाँ जिया जाता है अम्ब !
जान बूझ कर अमृत छोड़ विष
कहाँ किया जाता है अम्ब ?
किस अभाव से त्याग करूँ मैं
अपना धर्म मुक्ति का मर्म ?
किस आध्यात्मिकता के पीछे,
अङ्गीकार करूँ पर-धर्म ।"

"मरता, तुझे देखने को क्या
मैंने जन्म लिया था हाय!
गीले में रह, सूखे में रख
पालन कभी किया था हाय!"
"अपना दूध पिला कर हो तो
दी तुमने मुझको यह शक्ति,
नहीं छोड़ने देती है जो
मुझे मृत्यु-भय से निज भक्ति।
अमर तुम्हारा तुच्छ तनय यह
भय क्या माँ, सम्मुख भगवान;
मुझे धर्म-बलि वरती है, तुम—
रोती हो? गाओ जय-गान!
सच्चे स्वप्न महानिद्रा के
आहा! मैं देखूँगा आज,
होकर अतिथि अनन्तधाम का
धन्य भाग्य लेखूँगा आज!"
उज्वल असि-मिष कीर्ति आप ही
आकर लगी युवक के अङ्क,
पर यवनों के चिन्ह चन्द्र का
यह वध बना विशेष कलङ्क!

वह बूढ़ा मणिसिंह कि जो था
सिख-समाज का वेदव्यास,
किया ग्रन्थसाहब का जिसने
रागों के क्रम से विन्यास,
टुकड़े टुकड़े किया गया कुछ
चोरों के टुकड़ों पर काट;
धन की नहीं, असल में तब तो
यवनों को थी जन की चाट !
सिक्ख दूरदर्शी न रहे हों,
किन्तु हो चुके थे रण-दक्ष,
छापे मार मार यवनों का
लगे काटने फिर वे पक्ष।
नादिरशाह लिए जाता था
करके जब दिल्ली की लूट—
लूट ले गये वे उसको भी
सहसा उसके ऊपर टूट।
सिक्ख दबाये जाकर मानों
होते गए अधिक उद्दण्ड,
होकर मेघाच्छन्न और भी
चित्रभानु होता है चण्ड।

जूझो, जय चाहो तो जूझो,
जीते अहा ! अन्त मे सिक्ख;
रुधिर दिया था, क्यो न राज्य-रस
पीते अहा ! अन्त मे सिक्ख !
किन्तु हराकर भी यवनो को
पाकर भी वे गर्व अत्यन्त,
पा न सके खोकर धोखे मे
अपना वह वैरागी सन्त !
और न वे पा सके ऐक्य मय
वह गुरु का उद्देश विराट,
शासक होने पर भी मानो
बने रहे वे बारहबाट ।
तदपि बचा लाया विक्रम सम,
जस्सासिह शत्रु पर टूट,
अहमदशाह लिए जाता था,
केशी सम अबलाएँ लूट ।
आखिर श्री रणजीतसिह ने
किया सिक्ख-शासन-विस्तार,
काबुल ने भी नत होकर ही
पाया था उनसे निस्तार ।

एक दृष्टि थी और एक ही
　　था उन कृतलक्षण का लक्ष्य;
मुसलमान भी हिन्दू-सम थे
　　प्रजा रूप में उनको रक्ष्य।
एक यवन पर किसी सिक्ख ने
　　शूकर-मांस दिया था फेंक,
दिया उसे वध-दण्ड उन्होंने
　　की उस पर हो दया न नेक—
कठिन दण्ड की ही करती थी
　　उन्हें प्रेरणा उनकी नीति,
जिसमें उनकी किसी प्रजा पर
　　कर न सके कोई अनरीति।
उन्हें अमृतसर और पुरी के
　　मन्दिर में न रहा कुछ भेद;
पर चढ़कर भी—कोहनूर की
　　भेंट कहीं चढ़ सकी न खेद!
उनके बाद हाय! फिर हममें
　　फैल गई आपस की फूट,
और विशाल राज्य सिक्खों का
　　गिरा एक तारे-सा टूट।

सिक्खो, राज्य गया, जाने दो,
लो अतीत से कुछ उपदेश;
छोड़ो वह सङ्कीर्ण भावना
देखो अपना देश-निवेश।
हो जावेगी भरपाई-सी
हुई फूट से जितनी हानि;
मेल-मूल्य समझो तुम अब भी
मेटो वह आपस की ग्लानि।
शूरो, अब भी रखते हो तुम
सत्याग्रह करने की शक्ति;
गुरुकुल-सम समयानुसार चल
दिखलाओ सच्ची गुरुभक्ति।
आज नहीं बज सकते वैसे
मढ़े हुए बरसो के वाद्य,
व्यंजन भी बहु बासी होकर
हो जाते क्या नहीं अखाद्य!
आओ, अपनों के अङ्गी हो,
पाओ सक्षमता से क्षेम;
बनो राष्ट्र के सच्चे नागर,
करो नागरी पर तुम प्रेम।

जोड़ी जिसकी धातु अष्ट गुरुओं ने क्रम से,
डाला जिसका डौल नवें गुरु ने विभ्रम से,
दशवें गुरु ने जिसे गढ़ा अनुपम विक्रम से,
आये जिसमें प्राण वीर बन्दा के श्रम से;
रणजीतसिंह से जो हुई
स्वर्णमन्दिरस्था तभी;
वह शक्ति मूर्ति सिख-संघ की
भगवन्, भंग न हो कभी।

तथास्तु

साहित्य-सदन के नये ग्रन्थ

—o—

हिन्दू—गुप्तजी की नवीन रचना। हिन्दुओं के उत्थान के लिए जितनी भी पुस्तकें निकली हैं उनमें यह अपना सबसे ऊँचा स्थान रखती है। मूल्य १) व १।)

विकटभट—श्रीमैथिलीशरण गुप्त लिखित काव्य। मूल्य =)

त्रिपथगा—महाभारत सम्बन्धी गुप्तजी के तीन सुन्दर काव्य—वकसंहार, वनवैभव, और सैरन्ध्री। सुन्दर जिल्द का मूल्य १॥) तीनों अलग अलग ।=)

शक्ति—गुप्तजी का नवीन काव्य। मूल्य ।)

मेघनाद-वध—बंगीय कविश्रेष्ठ श्रीमाइकेल मधुसूदनदत्त के प्रसिद्ध 'मेघनाद-वध' का हिन्दी पद्यानुवाद है। बिलकुल मूल का आनन्द आता है। मूल्य २॥)

वीराङ्गना—यह भी श्री मधुसूदनदत्त के प्रसिद्ध 'वीराङ्गना' काव्य का पद्यानुवाद है। मूल्य १)

गीता-रहस्य—एक बंगाली विद्वान की प्रसिद्ध पुस्तक का अनुवाद। गीता की अपूर्व व्याख्या। मू० २॥)

आर्द्रा—श्री सियारामशरण रचित कविता बद्ध कहानियाँ। प्रत्येक कहानी पढ़कर करुणा से हृदय द्रवित होजाता है। मूल्य १)

चित्रांगदा—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बंगला काव्य का सफल पद्यानुवाद ।=)

हँसता मत्ता—बालकोपयोगी हास्य-रस पूर्ण, सुन्दर कविता-पुस्तक। मूल्य ।-)

अन्य काव्य-ग्रन्थ

भारत-भारती—सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय काव्य। मू०सादी १) सजिल्द १॥)

जयद्रथ-वध—वीर और करुण रस का अद्वितीय खण्डकाव्य ॥), १)

रङ्ग में भङ्ग—मनोहर ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)

चन्द्रहास—भावपूर्ण नवीन पौराणिक नाटक ।॥)

तिलोत्तमा—गद्य-पद्य-मय सरस पौराणिक नाटक ॥)

शकुन्तला—शकुन्तला नाटक के आधार पर निराली रचना ।=)

किसान—एक किसान की करुण कथा का हृदयद्रावक वर्णन ।=)

पत्रावली—ओजस्वी ऐतिहासिक कविता-पुस्तक ।-)

वैतालिक—भारत की जागृति पर कोमल-कान्त-पदावली ।)

पलासी का युद्ध—बँगला के राष्ट्रीय काव्यका हिन्दी पद्यानुवाद १॥)

मौर्य्य-विजय—वीर रस-प्रधान ऐतिहासिक खण्डकाव्य ।)

अनाथ—आधुनिक कथा-मूलक खण्डकाव्य ।)

सुमन—पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की फुटकर कविताओं का संग्रह । खद्दर की सुन्दर जिल्द मू० १)

स्थायीग्राहकों को विशेष सुविधा । स्थायीग्राहक बनिए, और अपने मित्रो को भी बनाइए ।

पता—प्रबन्धक,

साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)